(मानव-जीवनकी समस्याओंपर एक संतके मौलिक, सूक्ष्म एवं अनुभवसिद्ध विचार)
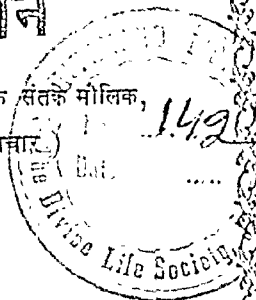
प्रकाशक—

मानव-सेवा-संघ, वृन्दावन (मथुरा)

इस संग्रहमें प्रत्येक प्रवचनका जो शीर्षक दिया गया है, वह उसके किसी न किसी अंशका संकेतमात्र है। ये प्रवचन किसी एक विषयको लेकर नहीं दिये गये हैं, प्रत्युत जीवनकी समस्याओंपर पूज्य संतने स्वतन्त्ररूपसे अपने विचार प्रकट किये हैं। प्रत्येक प्रवचन अपने स्थानपर पूर्ण है, अतः कहींसे भी पढ़कर विचारशील पाठक इस पुस्तकका लाभ उठा सकते हैं।

आशा है कि मानव-जीवनको सार्थक करनेके लिये धर्मप्राण और विचारशील पाठक इस संग्रहसे लाभान्वित होंगे।

मदनमोहन वर्मा
(मेम्बर, राजस्थान पब्लिकसर्विस कमीशन)
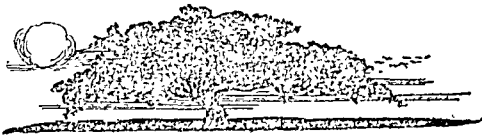
आमुख

मैंने सुना था, मानव-जीवन जैसा प्रतीत होता है वैसा नहीं है। जो प्रतीत होता है, वह वास्तविकता नहीं है। अर्थात् यह एक भ्रम (Illusion) है। मनोवैज्ञानिक भाषामें संवेदनाका गलतअर्थ लगाना भ्रम कहलाता है। मानवको सबसे बड़ा भ्रम (Illusion) अपने जीवनके ही सम्बन्धमें है। वह स्वयं है तो कुछ और समझता है कुछ और, वास्तविकता क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें युग-युगके विचारकों द्वारा भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये गये हैं।

उत्पत्ति-विनाशकी सीमाओंमें आबद्ध मानव-जीवनके चल-जल-प्रवाहपर ही जिनकी दृष्टि रही, उन्होंने Eat, drink and be merry का सिद्धान्त बनाया। हम आये हैं, चले जायँगे, इसलिये खाओ, पीओ और मौज करो।

समष्टि शक्तियों द्वारा संचालित निरन्तर परिवर्तनशील मिट्टीके पुतलोंमें भी जिन्हें सनातनताका दर्शन हुआ, उन्होंने उस चिरन्तन तत्त्वकी खोज और प्राप्तिके साधनसम्बन्धी बड़े-बड़े दार्शनिक सिद्धान्तोंकी स्थापना की और मानव-जीवनकी वास्तविकताको दर्शाया।

आधुनिक वैज्ञानिक युगके क्रान्तिकारी विचारकोंने भी मानव-जीवनको अपने ढङ्गसे समझनेकी और उसे सफल बनानेकी चेष्टा की है। उनमें एक हैं, कार्ल मार्क्स। इन्होंने मानव-जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोणको एक नयी दिशामें मोड़ा है। नियतिवादके

विधानानुसार किसीको तो वैभवकी गोदमें रँगरेलियाँ मचानेका और किसीको दरिद्रताके शिकंजोंमें फँसकर तरस-तरस रह जानेका औचित्य कार्ल मार्क्सकी दृष्टिमें नहीं है। मार्क्सवादके अनुसार व्यक्तिगत योग्यतानुरूप कार्य करना हर व्यक्तिका कर्तव्य और आवश्यकतानुसार वस्तु पाना प्रत्येकका अधिकार है। इसके फलस्वरूप वर्तमान युगमें श्रमका महत्त्व बढ़ा है। कुल, वंश और वर्गका आश्रय निर्बल पड़ गया है। मानव-मात्रको समान स्तरपर लानेकी चेष्टा की गयी है।

इस सिद्धान्तके द्वारा मानव-जीवनके भौतिक पहलूकी कुछ गुत्थियाँ सुलझती हुई-सी प्रतीत होती हैं, पर उसकी मौलिक समस्या अब भी उसके प्रगति-पथपर प्रश्नवाचक चिह्नके रूपमें खड़ी है।

मानव-जीवनसम्बन्धी दृष्टिकोणमें हलचल मचानेवाले दूसरे विचारक हैं एस० फ्रायड (S. Freud)। इन्होंने हमारे व्यक्त (Conscious) व्यवहारोंपर पड़नेवाले अव्यक्त (Unconscious) मनके प्रभावोंके विषयमें खोज की है। कहते हैं, Freud महोदयने हमारे जीवनके एक नये रहस्यका उद्‌घाटन किया है, अर्थात् जीवनसम्बन्धी ज्ञानमें एक नया अध्याय जोड़ा है।

मानसिक जीवनके कलेवर (Structure of mental life) की व्याख्या करते हुए इन्होंने यह बतानेकी चेष्टा की है कि व्यक्त (Conscious) अनुभूतियोंके आधारपर व्यक्ति अपनेको जैसा समझता है, वस्तुतः वह वैसा है नहीं। उसका असली चित्र तो अव्यक्त (Unconscious) में है।

फ्रायडके अनुसार अव्यक्त मनमें दबी हुई अभुक्त कामनाओंके वेगसे व्यक्त (Conscious) व्यावहारिक जीवनमें विकृति आ जाती है। जिस व्यक्तिके जीवनमें जितना ही अधिक दमन (Repression) होता है उसकी मानसिक शक्तिका उतना ही अधिक ह्रास होता है। फलस्वरूप वह व्यक्ति यथार्थ जीवनकी कठिनाइयोंका सामना करनेमें असमर्थ हो जाता है और दुःखमय जीवन यापन करता है। सारांश यह कि व्यक्तित्वके संतुलित विकासके लिये इच्छाओंकी सम्यक् पूर्ति आवश्यक है; परंतु इसमें व्यक्ति कभी स्वाधीन नहीं है, क्योंकि भौतिक, शारीरिक, नैतिक और धार्मिक प्रतिबन्धोंके कारण व्यक्तिकी कामनाओंकी पूर्तिमें बाधा पड़ती ही रहती है।

मनोविज्ञानकी दृष्टिसे मनका संतुलित होना ही सफल जीवन है। पर मनके संतुलित होनेमें अर्थात् प्रत्येक परिस्थितिमें अपनेको सहर्ष अभियोजित कर लेनेकी योग्यता प्राप्त करनेमें फ्रायडियन सिद्धान्तके अनुसार व्यक्ति निरीह, पराश्रित और विवश दीखता है। माता-पिता और वातावरणकी उपयुक्तता तथा अनुपयुक्ततापर ही हमारे व्यक्तित्वका संतुलित अथवा विकृत होना निर्भर है; क्योंकि पाँच वर्षकी आयुके भीतर ही मानसिक स्वास्थ्यका गठन हो चुकता है। इस गठनमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बिल्कुल नहीं है।

फ्रायड द्वारा प्रस्तुत अपना यह चित्र मनुष्यको संतोषदायक नहीं प्रतीत होता। व्यक्तित्वके निर्माणमें तथा जीवनकी सफलतामें व्यक्तिगत पराधीनता और विवशता बहुत अखरती है। अव्यक्त

(Unconscious) मनकी क्रियाओंका चमत्कार हमारे लिये आकर्षक तो है, पर इसके द्वारा जीवनकी अनबूझ पहेली और अधिक रहस्यपूर्ण बन जाती है। मौलिक प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा रह जाता है—जीवन क्या है? आजका विचारकवर्ग मानवताकी नयी राह खोज रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक 'जीवन-दर्शन' हमारी इसी आवश्यकताकी पूर्ति है। यह जीवन-दर्शन, यह सार्वभौम सत्य (Universal truth) एक ऐसे सिद्ध पुरुषकी वाणी द्वारा प्रकट हुआ है, जिन्होंने अपने ही जीवनकी घटनाओंके अध्ययन और मननसे जीवनकी वास्तविकताको जाना है और अपनी अनुभूतियोंके आधारपर प्रतिपादित सिद्धान्तोंको लोककल्याणार्थ दर्शनरूपमें प्रस्तुत किया है।

उक्त संतके सिद्धान्तानुसार ही उनका नाम नहीं दिया जा रहा है; क्योंकि उनका यह विचार है कि नामके आधारपर जो बात चलती है वह कालान्तरमें खतम हो जाती है और नामके साथ राग-द्वेषका होना स्वाभाविक है, इसलिये सार्वभौम सत्यके प्रकाशनके साथ नाम न दिया जाय तो अच्छा है। इसके अतिरिक्त विचार तो अनन्तकी विभूति है, किसी व्यक्तिकी निजी विशेषता नहीं; अतः विचारोंका प्रकाशन तो अनन्तकी अहैतुकी कृपासे होता है। उसके साथ किसी व्यक्तिविशेषका नाम जोड़ देना प्रमाद है।

उक्त संतके द्वारा प्रस्तुत दर्शनके अनुसार मानवजीवन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। यह जीवन भ्रम (Illutsion) में पड़े रहनेके

लिये नहीं मिला है। जड़ता, पराधीनता, बन्धन और मृत्युकी पीड़ाओंको झेलते रहनेके लिये नहीं मिला है। यह जीवन तो मानवको साधनयुक्त होकर अपना कल्याण और सुन्दर समाजके निर्माणके लिये मिला है।

मानव इस अनन्तकी विभूतियोंकी लालसामात्र है, जिसकी सत्तासे अखिल ब्रह्माण्डको सत्ता मिली है और जिसके प्रकाशसे अखिल विश्व प्रकाशित है। इस दर्शनके अनुसार मानवमें दृश्य-जगत्‌की चाह और वास्तविकताकी लालसा विद्यमान है। दृश्य-जगत्‌की चाहके कारण वह रागयुक्त प्रवृत्तियोंमें रत होता है; वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितियोंकी दासतामें आबद्ध होकर कर्मफलके बन्धनमें बँधता है और इच्छा-शक्तिके शेष रहते ही प्राणशक्तिका क्षय हो जानेके कारण बार-बार शरीर धारण करता हुआ अनेक प्रकारके कष्ट भोगता है।

कर विजातीयसे असङ्गता और सजातीयसे अभिन्नता प्राप्त करनेके लिये मिला है।

वह विवेक जो भौतिक दृष्टिसे चरम विकास, आध्यात्मिक दृष्टिसे अपनी ही एक विभूति और आस्तिक दृष्टिसे प्रभुकी कृपा-शक्तिरूप है, मानवमात्रको प्राप्त है। उसीके प्रकाशमें सभीको चलना है। यह विवेक कोई मतवाद नहीं, सम्प्रदाय नहीं, वह मानवमात्रका पथप्रदर्शक है। उसके उपयोग द्वारा प्रत्येक मानव लक्ष्यप्राप्तिमें समर्थ हो सकता है। यही प्रस्तुत 'जीवन-दर्शन' की संक्षिप्त रूप-रेखा है, अथवा भ्रमित, त्रसित, पीड़ित मानव-जीवनको साधनयुक्त बनाकर साध्यसे अभिन्न करा देनेका महामन्त्र है।

यह दार्शनिक सिद्धान्त मानवको निराशा, पराधीनता, जड़ता और मृत्युके भयसे मुक्त करनेवाला है। इसके अनुसार मानवमात्रको वह स्वाधीनता, विवेक और सामर्थ्य स्वतः प्राप्त है जिनके द्वारा मनुष्य साधनयुक्त होकर अमरत्व और अनन्तरस प्राप्त कर सकता है। यह आश्वासन ही व्यथित और निराश मनुष्यको नव-जीवन प्रदान करनेवाला है।

इस दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार आध्यात्मिकता और भौतिकताके बीच गहरी खाई मानना भी व्यर्थ सिद्ध होता है। वर्तमान युगके वैज्ञानिक चमत्कारोंसे प्रभावित बुद्धिवादी वर्गमें यह भ्रम पैदा हो गया है कि आध्यात्मिक चर्चा भौतिक विकासकी बाधक है, क्योंकि वह निष्क्रियताकी पोषक है। जो लोग आध्यात्मिक विकासमें लग जाते हैं, वे फिर लोकसंग्रहके काम नहीं

आ सकते; परंतु प्रस्तुत जीवन-दर्शनमें कर्मविज्ञान और अध्यात्मविज्ञानको मानवताका अभिन्न अङ्ग बताया गया है। पूर्ण मानव होनेके लिये कर्मविज्ञानद्वारा सुन्दर समाजका निर्माण तथा अध्यात्मविज्ञानके द्वारा अपने कल्याणको अनिवार्य सिद्ध किया गया है। इसमें कहीं भी आध्यात्मिक विकास और भौतिक विकासमें विरोध दिखाई नहीं देता, प्रत्युत दोनोंको एक दूसरेका पोषक सिद्ध किया गया है। साधकको सिद्धि दिलानेके लिये दोनों ही साधनरूप हैं। कर्मविज्ञानके अनुसार प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और परिस्थितिका सदुपयोग किये बिना आध्यात्मिक जीवनमें प्रगति सम्भव नहीं तथा अध्यात्मविज्ञानके अनुरूप जीवन बनाये बिना जन-कल्याण और विश्व-शान्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार मानवके सर्वाङ्गपूर्ण चरम विकासका सुन्दर चित्र इस दर्शनमें चित्रित है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

इस जीवन-दर्शनमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वोंकी वैज्ञानिक व्याख्या की गयी है। भाषा गहन है; युक्तियाँ अकाट्य हैं; पर दैनिक जीवनकी घटनाओंके माध्यमसे उनकी व्याख्या अति सरलरूपमें की गयी है। जो कुछ कहा गया है, सब निश्चयात्मक शब्दोंमें। इसके निर्णय स्वतः सिद्ध हैं। उनके लिये न प्रमाणकी आवश्यकता है और न कहीं शङ्काकी गुंजाइश है।

मैं तो जब-जब इस पुस्तकको पढ़ती हूँ, तब-तब ऐसा मालूम होता है कि वर्तमान बुद्धिवादी युगके कल्याणार्थ ही इस दर्शनका प्रादुर्भाव हुआ है। इसमें कोई ऐसी बात नहीं कही गयी है जो अबतकके विचारकोंको किसी-न-किसी रूपमें ज्ञात नहीं थी, पर

इसके प्रतिपादनकर्ताने युगकी चिन्तनधारामें अपनी चिन्तनधारा मिलाकर विचार किया है।

इस जीवन-दर्शनकी यह एक और विलक्षणता है कि मानव-जीवनके वास्तविक स्वरूपका स्पष्ट दर्शन करानेके साथ-साथ उसकी प्राप्तिके अति सुगम साधन भी बताये गये हैं, जो साधककी व्यक्तिगत भिन्नता (Individual difference) को ध्यानमें रखकर निर्धारित किये गये हैं। यद्यपि स्वरूपसे मानवमात्र एक हैं और साध्य भी सबका एक है, फिर भी योग्यताभेदसे साधनमें भेद होना स्वाभाविक है। इस बातपर पूरा ध्यान रखकर साधनकी चर्चा की गयी है। प्रत्येक समस्याको अध्यात्मवाद, भौतिकवाद और आस्तिकवादकी दृष्टिसे हल किया गया है।

इस पुस्तकमें केवल सिद्धान्तोंका ही निरूपण नहीं हुआ, प्रत्युत ऐसे साधन भी बताये गये हैं जो दुर्बल-से-दुर्बल, असहाय-से-असहाय साधकको भी साध्यसे मिला देनेमें समर्थ हैं। उन साधनोंके लिये बाह्य परिस्थिति, योग्यता, वस्तु और देश-कालकी अपेक्षा नहीं है। इसलिये इस क्षेत्रमें सभी मनुष्य समान हैं। पढ़ेलिखे और बेपढ़, धनी-निर्धन, सबल-निर्बल, सभी साधक हो सकते हैं और सभी साध्यसे मिल सकते हैं। आजके साम्यवादी युगके लिये इससे बढ़कर साम्यवादकी सार्थकता और क्या हो सकती है ?

साधारण दृष्टिसे मालूम होगा कि इस पुस्तकमें निर्णीत सिद्धान्तोंकी पुनरावृत्ति अनेक बार हुई है, किंतु रहस्यको स्पष्ट करनेके लिये पुनरावृत्ति अनिवार्य है, अतः यह वास्तवमें कोई

दोष नहीं है; क्योंकि साधक अनेक श्रेणीके होते हैं, उनको भिन्न-भिन्न ढंगसे समझाना पड़ता है, इसलिये पुनरावृत्ति आवश्यक है।

इस दर्शनका विषय सनातन है, पर अभिव्यक्ति आधुनिक है, जो वर्तमान युगकी मानवताकी माँग पूरी करनेमें समर्थ है। आशातीत सफलताका मार्ग प्रदर्शन करनेवाला यह 'जीवन-दर्शन' मानवमात्रके भौतिक और मानसिक जीवनको चरम विकासतक पहुँचाकर वास्तविकताकी उपलब्धि करानेवाला है।

यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वोंकी ऐसी ठोस व्याख्या है कि इसके सम्बन्धमें कुछ भी कह सकना साधारण बुद्धिकी सामर्थ्यसे बाहर है। फिर भी इसे पढ़कर जो प्रकाश और उल्लास मिला है उससे जीवन अनुप्राणित हो उठा है। इसलिये उसे प्रकट किये बिना मुझसे रहा नहीं गया। अतः मेरी तुच्छ मतिसे जितना ग्राह्य हो सका और उसमें भी जितना अभिव्यक्त कर सकी, वह लिख दिया है। ज्ञान-प्रेमकी निर्मल गङ्गा अविरल गतिसे बह रही है, यह पात्रकी योग्यतापर निर्भर है—जो जितना अपनेमें भर सके, भर ले।

निर्माण-निकेतन
रांची (बिहार)
ता० ६-२-५६

विनयावनता
देवकी
एम्० ए० (मनोविज्ञान)

विषय-सूची

———

जीवन-दर्शन

(१)

अचाह पद

सभी साधनोंका पर्यवसान अचाह पदमें है। कारण कि अचाह होनेपर ही अप्रयत्न और अप्रयत्न होनेपर ही साध्यसे अभिन्नता प्राप्त होती है, जो जीवनका मुख्य उद्देश्य है।

अब विचार यह करना है कि चाहकी उत्पत्तिका हेतु क्या है? रुचि और अरुचिरूपी भूमिमें चाहरूपी दूर्वा उत्पन्न होती है। यदि रुचि-अरुचिका समूह न रहे तो चाहकी उत्पत्तिके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता; कारण कि रुचि-अरुचिके आधारपर ही सीमित अहंभाव सुरक्षित रहता है। उसीसे चाहकी उत्पत्ति होती है। अतः सीमित अहंभावके रहते हुए अचाह पदकी प्राप्ति सम्भव नहीं है।

सीमित अहंभावका अन्त कैसे हो? इसके लिये रुचि-अरुचिके स्वरूपको जानना होगा। रुचि और अरुचिका सम्बन्ध 'स्व' और 'पर'से है। 'स्व'की विमुखता 'पर'की रुचि जाग्रत् करती है और 'पर'की अरुचि 'स्व'की रुचिको सबल बनाती है। 'पर'की अरुचि निषेधात्मकरूपसे 'स्व'में प्रतिष्ठित करती

है और 'स्व'की रुचि विध्यात्मकरूपसे 'पर'में अरुचि उत्पन्न करनेमें समर्थ है।

अरुचिका अर्थ द्वेष नहीं है और रुचिका अर्थ राग नहीं है। 'पर'की अरुचि संयोगको संयोग-कालमें ही वियोगमें बदलती है और 'स्व'की रुचि वर्त्तमानमें ही नित्य योग-प्रदान करती है। अतः वियोग अथवा नित्ययोग रुचि-अरुचिके समूहको मिटानेमें समर्थ है।

रुचि-अरुचिके मिटते ही अचाह पद स्वतः प्राप्त हो जाता है। हमसे बड़ी भूल यही होती है कि जो वास्तवमें अपना है उसमें अरुचि और जिससे केवल मानी हुई एकता है उसमें रुचि उत्पन्न कर लेते हैं। फिर चाहके जालमें फँसकर जो करना चाहिये, वह नहीं कर पाते; अपितु जो नहीं करना चाहिये, उसको करने लगते हैं। उसके करनेसे ही हम कर्तव्यसे च्युत हो जाते हैं। कर्तव्यसे च्युत होते ही राग-द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं। राग-द्वेष उत्पन्न होनेसे जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है, उससे विमुखता और जिससे केवल मानी हुई एकता है, उसमें आसक्ति हो जाती है, जो चाहको सजीव बनानेमें हेतु है।

अब विचार यह करना है कि हम किसे अपना कह सकते हैं? अपना उसीको कह सकते हैं जिससे देश-कालकी दूरी न हो, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त न हो और जो अपनेको अपने-आप प्रकाशित करनेमें समर्थ हो; क्योंकि अपनेसे अपना वियोग सम्भव नहीं है और जो अपना नहीं है उससे वियोग होना अनिवार्य है। इस दृष्टिकोणसे बाह्य वस्तुकी तो कौन कहे शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन आदिको भी अपना नहीं कह सकते। पर इसका अर्थ

यह नहीं है कि जिसे हम अपना नहीं कह सकते, वह हमारी सेवाका पात्र नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि उससे प्रेम नहीं किया जा सकता। सेवा माने हुए सम्बन्धको तोड़नेमें और प्रेम जिससे जातीय एकता है उससे अभिन्न करनेमें समर्थ है। इस दृष्टिसे शरीर आदि सभीकी सेवा की जा सकती है; पर उनसे न तो ममता की जा सकती है और न प्रेम ही। प्रेम उसीसे किया जा सकता है जो उत्पत्ति-विनाशरहित है। प्रेम करनेके लिये हमें अपने-आपको समर्पण करना पड़ता है और सेवा करनेके लिये संग्रह की हुई वस्तु एवं योग्यता आदिको देना पड़ता है। प्रेम हमें अन्तर्मुख जीवनसे अभिन्न करता है और सेवा क्रिया-शीलता प्रदान करती है।

जिस प्रकार अचल हिमालयसे अनेक नदियाँ निकलती हैं और भूमिको हरा-भरा बनानेमें समर्थ होती हैं, उसी प्रकार अन्तर्मुख प्रेमयुक्त जीवनसे सेवारूपी अनेक नदियाँ निकलती हैं, जो विश्वको हरा-भरा बनानेमें समर्थ होती हैं। अथवा यों कहें कि प्रेमसे अपना कल्याण और सेवासे सुन्दर समाजका निर्माण होता है। सेवाभावसे उत्पन्न हुई क्रियाशीलता प्रेमको पुष्ट करती है और प्रेम सेवाको सजीव बनाता है। सेवा तथा प्रेम-युक्त जीवनसे ही रुचि-अरुचिका अन्त होता है। रुचि-अरुचिका अन्त होते ही अहंभाव गल जाता है। अहंभावके गलते ही सब प्रकारकी चाहका अन्त हो जाता है। फिर लक्ष्यसे अभिन्नता स्वतः प्राप्त हो जाती है, जो निःसंदेहता और प्रेमकी प्राप्तिमें समर्थ है। यही जीवनका लक्ष्य है।

(२)

विवेक एवं अविवेकयुक्त विश्वास

विश्वास दो भागोंमें विभाजित हो सकता है—विवेकसिद्ध और अविवेकसिद्ध। अविवेकसिद्ध विश्वास साधन रूप नहीं है; पर विवेकसिद्ध विश्वास साधनरूप है। अपनेको देह मान लेना अविवेकसिद्ध विश्वास है और अपनेमेंसे देहभावका त्याग करना विवेकसिद्ध विश्वास है। अविवेकसिद्ध विश्वास काम और मोह उत्पन्न करता है, जिससे प्रवृत्ति और आसक्ति ही सिद्ध होती है। आसक्तिसे परतन्त्रता और प्रवृत्तिसे शक्तिहीनता प्राप्त होती है, जो अपनेको अभीष्ट नहीं है। परतन्त्रता और शक्तिहीनताकी व्यथा विवेकयुक्त विश्वासको जन्म देती है।

अपनेको देह स्वीकार न करना विवेकयुक्त विश्वास है। इस विश्वासमें यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि देह और देहका अभिमानी क्या है? यह प्रश्न ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों संदेहकी वेदना तीव्र होती जाती है, जो भोगेच्छाओंको खाकर जिज्ञासा जाग्रत् कर देती है। भोगेच्छाओंके मिटते ही प्रवृत्ति सहज निवृत्तिमें और आसक्ति अनासक्तिमें परिवर्तित हो जाती है। फिर जिज्ञासापूर्तिका प्रश्न वर्तमानकी समस्या बन जाता है।

सहज निवृत्ति भोगको योगमें और अनासक्ति रागको अनुरागमें परिवर्तित करती है। ज्यों-ज्यों योग दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों

जिज्ञासापूर्तिकी सामर्थ्य स्वतः आती जाती है; क्योंकि योग जड़तासे असंग करनेमें समर्थ है। जड़तासे असंग होते ही चिन्मय जीवनमें प्रवेश हो जाता है; फिर जिज्ञासाकी पूर्ति स्वतः हो जाती है। जिज्ञासाकी पूर्ति होते ही जीवन अनुरागसे युक्त हो जाता है। इस दृष्टिसे योग अविवेकसिद्ध विश्वासको खाकर जीवनकी सभी समस्याओंको हल करनेमें समर्थ है।

(३)

भोगेच्छाकी निवृत्ति

वर्तमान परिवर्तनशील जीवनकी स्वाभाविक इच्छाओंका कुछ भाग अनेक बार पूरा हो चुका है, फिर भी उन इच्छाओंकी पूर्तिका राग निवृत्त नहीं होता; क्योंकि उनकी पूर्तिके सुखकी स्मृति विद्यमान है। इसीलिये स्वाभाविक लालसाकी पूर्ति नहीं होती और निर्विकल्पता नहीं आती।

इच्छाकी निवृत्ति तथा स्वाभाविक लालसाकी पूर्ति न होनेका एक कारण यह भी मालूम होता है कि हम जब इच्छाकी पूर्ति करने चलते हैं, तब उसका भोक्ता अपनेको मान लेते हैं। भोगकी इच्छामें भोक्ता निवास करता हुआ मालूम होता है, पर वास्तवमें भोगकी इच्छाएँ ही भोक्तामें निवास करती हैं। जिस प्रकार सभी बीज भूमिमें ही निवास करते हैं, उसी प्रकार सभी इच्छाएँ भोक्तामें निवास करती हैं। जिस प्रकार भूमिका नाश होनेपर सभी बीजोंका नाश हो जाता है, उसी प्रकार भोक्ताका नाश होनेपर सभी इच्छाओंका नाश स्वतः हो जाता है।

भोक्ताकी रुचिसे ही भोगेच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, भोक्ताके आश्रयसे ही पुष्ट होती हैं और भोक्ताहीमें इच्छा-पूर्तिका सुख अङ्कित होता है, जो पुनः इच्छाओंकी उत्पत्तिका हेतु बन जाता है। भोग-

च्छाओंका अन्त करनेके लिये यह अनिवार्य है कि यह भाव अस्वीकार कर दिया जाय कि मैं भोक्ता हूँ।

अब यह विचार करना है कि हम अपनेको भोक्ता न मानें तो क्या मानें ? तो कहना होगा कि हम अपनेको साधक मानें। यदि हम अपनेको साधक स्वीकार करें तो यह प्रश्न स्वतः ही उत्पन्न होता है कि हमारा साधन क्या है और हमारा साध्य क्या है ? कारण कि साधक उसे ही कह सकते हैं, जिसका कोई साध्य हो और जिसमें कोई साधन हो। यह नियम है कि साधक, साधन और साध्यमें जातीय तथा स्वरूपतः एकता और गुणोंकी भिन्नता होती है, इसी कारण साधक साधन होकर साध्यसे अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टिसे समस्त जीवन साधन होनेपर ही सिद्धि सम्भव है। अपनेको साधक स्वीकार कर लेनेपर ही समस्त जीवन साधन बन सकता है; क्योंकि स्वीकृतिका विकसित रूप ही जीवन है। असफलताका कारण एकमात्र यही है कि हम साधनको जीवनका एक अङ्ग मानते हैं। इस प्रमादके मिटते ही साधक साधनसे अभिन्न होकर साध्यमें विलीन हो जाता है।

यह प्राकृतिक नियम है कि जिस मान्यतासे जो इच्छा उत्पन्न होती है उसकी पूर्ति होनेपर उसी मान्यताकी सिद्धि होती है, जिस मान्यतासे इच्छा उत्पन्न हुई थी। साधनरूप मान्यताके विना कभी भी अहंता साध्यमें विलीन नहीं हो सकती; इस दृष्टिसे साधनरूप मान्यतासे भिन्न जो मान्यताएँ हैं, वे सब त्याज्य हैं।

भोगेच्छाओंकी निवृत्ति न होनेका एकमात्र कारण यही है कि हम अपनेको भोक्ता मानते हैं, जो वास्तवमें प्रमाद है। जब हम

भोक्ता नहीं हैं, तब भोग हमारी वास्तविक चाह नहीं है। अब विचार यह करना है कि हम अपनेको भोक्ता कबसे मानते हैं और क्यों मानते हैं? इस सम्बन्धमें यह कहना होगा कि उस कालका निर्णय कोई नहीं कर सका कि किस कालमें अपनेको भोक्ता स्वीकार किया था और अपनेको भोक्ता क्यों मानते हैं। इस विषयमें केवल यह संकेत किया जा सकता है कि देहाभिमानके कारण मानते हैं। भोगके परिणाममें भोगसे अरुचि होती है और भोगसे अतीत जीवनकी रुचि जाग्रत् होती है। इस आधारपर ही हमें यह मान लेना पड़ता है कि भोक्ता होकर रहना हमारा नित्य-जीवन नहीं है। अतः भोगसे अतीत जीवनकी जिज्ञासा जाग्रत् होना अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान परिस्थितिसे हमें ममता करनी है अथवा उसके द्वारा साधन निर्माण करके साध्यसे अभिन्न होना है। शरीर आदि प्रत्येक वस्तु साधन-सामग्री है। उसके प्रति ममता न करके उसके द्वारा अपने साध्यको प्राप्त करना है। साध्य वही हो सकता है, जिससे देश-कालकी दूरी न हो और साधन वही हो सकता है, जो विद्यमान रागकी निवृत्तिमें समर्थ हो। राग-रहित होते ही अनुरागका उदय स्वाभाविक है और रागरहित होते ही अविवेककी निवृत्ति भी अनिवार्य है। अविवेक निवृत्त होते ही अहंभावरूपी अणु स्वतः गल जाता है। उसके गलते ही सब प्रकारके भेद तथा भिन्नताएँ मिट जाती हैं और अपने साध्यसे अभिन्नता हो जाती है।

परतन्त्रता केवल अस्वाभाविक इच्छाओंकी पूर्तिमें है—स्वाभाविक लालसाकी पूर्तिमें नहीं। अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति

स्वाभाविक लालसाकी पूर्तिकी सामर्थ्य प्रदान करती है। अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति वर्तमान परिस्थितिके सदुपयोगमें निहित है।

हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिसकी प्राप्ति वर्तमानमें हो सकती है उसके लिये भविष्यकी आशा करते हैं और जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है उसके लिये गतिशील रहते हैं। परिवर्तनशील परिस्थिति किसी भी प्रकारसे नित्य नहीं रह सकती। हाँ, यह अवश्य है कि उसके उपयोगमात्रसे परिस्थितियोंसे असंगता हो सकती है। परिस्थितियोंकी असंगता हमें उस जीवनकी ओर ले जाती है जो अनन्त, नित्य तथा चिन्मय है और उसकी प्राप्ति वर्तमानमें ही सम्भव है, भविष्यकी आशापर नहीं।

जो कर सकते हैं उसके कर डालनेपर जो होना चाहिये वह स्वतः होने लगता है और फिर जो प्राप्य है उसकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टिसे प्रत्येक साधक साधन-निर्माण तथा साध्यकी प्राप्तिमें सर्वदा स्वतन्त्र है।

व्यक्तित्वकी दासता

संकल्पोत्पत्तिका क्षोभ जबतक सहन होता है और संकल्पोंकी पूर्तिका श्रम जबतक सुखद प्रतीत होता है, तबतक निर्विकल्पता नहीं आती; क्योंकि निर्विकल्प होनेका अधिकार उसीको प्राप्त होता है जिसे संकल्पकी उत्पत्ति भी सहन न हो और उसीकी पूर्तिके श्रममें केवल कर्तव्य-बुद्धि भले ही रहे, पर सुख तथा संतोष न हो। कारण कि प्रत्येक संकल्पपूर्तिके अन्तमें प्राणी उसी स्थितिमें आता है जिसमें संकल्पकी उत्पत्तिसे पूर्व था। तो फिर संकल्पपूर्तिके श्रमसे क्या लाभ? हाँ, यह अवश्य है कि संकल्पपूर्ति जिस परिस्थितिको उत्पन्न करती है, वह परिस्थिति भले ही पूर्तिसे पूर्वकी परिस्थितिसे भिन्न हो; पर कोई ऐसी परिस्थिति तो हो ही नहीं सकती, जिसमें किसी-न-किसी प्रकारका अभाव तथा अपूर्णता न हो। परिस्थितिका वाह्यरूप भले ही ऊँचा-नीचा प्रतीत हो, किंतु वस्तुतः उसके अर्थमें कोई अन्तर नहीं होता; जैसे १/२ को ५०/१०० कर दिया जाय तो मूल्य कुछ नहीं बढ़ता। इस दृष्टिसे संकल्पपूर्तिका प्रयास अपनेको बहलानेके अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं रखता। दूसरी बात यह है कि जिन संकल्पोंको पूरा होना है, वे होकर ही रहेंगे। संकल्पपूर्तिकी आशा लेकर तो केवल हम अपनेहीको किसी अप्राप्त परिस्थितिमें आबद्ध करते हैं अर्थात् परतन्त्रताका आवाहन करते हैं और कुछ नहीं।

यह सभीको मान्य होगा कि संकल्पकी उत्पत्तिमात्रमें किसी-न-किसी प्रकारके अभावका अनुभव और पूर्ति-कालमें उससे अरुचि तथा शक्तिहीनता आती है, जो किसीको अभीष्ट नहीं है। केवल संकल्पपूर्तिके क्षणिक सुखकी आसक्ति और प्रवृत्तिजन्य क्रियाकी लोलुपता ही हमें निर्विकल्प नहीं होने देती। उसका मूल कारण एकमात्र यह है कि संकल्पनिवृत्तिसे जो शान्ति मिलती है, उसके महत्त्वको हम जानते तथा मानते नहीं हैं। इसी प्रमादसे संकल्प-पूर्तिकी दासतामें आबद्ध रहते हैं।

अब विचार यह करना है कि संकल्पनिवृत्तिमें जो शान्ति है उसका महत्त्व तथा महिमा क्या है ? तो कहना होगा कि संकल्प-निवृत्तिकी शान्ति भोगको योगमें, पराधीनताको स्वाधीनतामें और जड़ताको चिन्मयतामें परिवर्तित करनेमें समर्थ है। पर व्यक्तित्वका मोह हमें उस शान्तिका आदर नहीं करने देता। यद्यपि हमारे लक्ष्यकी पूर्ति निर्विकल्पतासे होनेवाली चिरशान्तिमें ही निहित है; परंतु व्यक्तित्वके मोहने हमें अपने लक्ष्यसे विमुख कर दिया है। अपने सीमित अस्तित्वको सुरक्षित रखनेका प्रयास ही व्यक्तित्वका मोह है। यह भलीभाँति जान लेना चाहिये कि मोह सदैव उसीके प्रति होता है, जो परिवर्तनशील हो।

हमसे सबसे बड़ी भूल यह होती है कि जो निरन्तर मिट रहा है; उसके पीछे दौड़ते हैं और जो नित्य प्राप्त है, उससे विमुख रहते हैं। इतना ही नहीं, व्यक्तिभावको सुरक्षित रखनेके लिये पराधीनताको स्वाधीनताके समान ही आदर देते हैं और नित्यप्राप्त स्वाधीनताका निरादर करते हैं। यह व्यक्तित्वके मोहकी ही महिमा है।

कि जड़ता, परतन्त्रता तथा अनेक प्रकारके अभावोंमें ही हम जीवन मान लेते हैं, यद्यपि इनमें जीवन है नहीं केवल जीवनका भासमात्र है अथवा यों कहें कि जड़ता चिन्मयताकी, परतन्त्रता स्वतन्त्रताकी एवं व्यक्तिभाव अनन्तकी लालसामात्र है। यह नियम है कि लालसामें सत्ता उसीकी होती है जिसकी वह लालसा है। इस दृष्टिसे बड़े-से बड़े व्यक्तित्वका अस्तित्व केवल उस अनन्तके किसी अंशमात्रमें है। यद्यपि व्यक्तित्वकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; परंतु मोहवश सत्ता-जैसी प्रतीत होती है। व्यक्तित्वके मोहने ही हमें संकल्पोंमें आबद्ध कर दिया है और निर्विकल्प नहीं होने दिया। निर्विकल्पताके बिना सामर्थ्यकी उपलब्धि सम्भव नहीं है और सामर्थ्यके बिना लक्ष्यकी प्राप्ति हो नहीं सकती। अतः जड़तासे अतीत चिन्मय राज्यमें प्रवेश करनेके लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि व्यक्तित्वके मोहको त्याग निर्विकल्पता प्राप्तकर अपनेको उस चिन्मय धामका अधिकारी बना लिया जाय, जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है; परंतु व्यक्तित्वके मोहको सुरक्षित रखनेके लिये हम क्या-क्या नहीं करते हैं। बाल्यकालमें माँकी गोदकी ममताके आधारपर व्यक्तिभावको सुरक्षित रखनेका प्रयत्न किया और ज्यों-ज्यों शारीरिक तथा बौद्धिक विकास होता गया, सखाओं, सखियों एवं कुटुम्बी जनोंके आधारपर व्यक्तित्वके मोहका पालन-पोषण किया तथा शिक्षित हो जानेके पश्चात् समाजके विभिन्न विभागों के आधारपर व्यक्ति-भावको सुदृढ़ बनाया। इतना ही नहीं, समाजमें स्थान पानेके लिये और समाजपर शासन करनेके लिये अपनी अहंताको अनेक मान्यताओंमें आबद्ध किया। कभी रक्षक, कभी सेवक, कभी न्यायाधीश, कभी

कलाकार, कभी विज्ञानवेत्ता बनकर बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंको सहन करनेका प्रयास किया और अपने व्यक्तित्वको सदाचारी, तपस्वीके रूपमें जीवित रखा और बड़े-बड़े मानपत्र तथा पद प्राप्त किये; किंतु दीनता और अभिमानकी अग्नि ज्यों-की-त्यों प्रज्वलित होती रही। यह सब व्यक्तित्वके मोहकी महिमा है।

व्यक्तित्वका मोह रहते हुए संकल्प-विकल्पका प्रवाह निरन्तर चलता ही रहेगा, जिससे हम दीन तथा अनाथ ही रहेंगे। दूसरोंकी दृष्टिमें भले ही महान् प्रतीत होते हों, पर अपनी दृष्टिमें तो अनेक प्रकारके अभावोंसे आबद्ध ही रहेंगे, जो किसीको भी स्वभावतः प्रिय नहीं है।

अब विचार यह करना है कि क्या हम व्यक्तित्वके मोहको सुरक्षित रखना चाहते हैं या उसको छोड़कर निर्विकल्पता प्राप्तकर नित्य-योग, नित्य-जीवन एवं अनन्तसे अभिन्न होना चाहते हैं? निर्विकल्पता वर्तमान जीवनकी वस्तु है, उसे प्रत्येक परिस्थितिमें प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि उसके लिये किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है। इसी कारण निर्विकल्पता हमें अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे अभिन्न करनेमें समर्थ है और व्यक्तित्वका मोह केवल परतन्त्रता, जड़ता, उद्विग्नता आदि विकारोंको ही उत्पन्न करता है। उसपर भी व्यक्तित्व सर्वदा सुरक्षित रह नहीं सकता। हम भले ही अपनी जयन्तियाँ मनवायें और स्मारक बनवायें, पर व्यक्तित्वका विरोध तो होता ही रहेगा; क्योंकि व्यक्तित्वका मोह भेद उत्पन्न करता है तथा अहंको पुष्ट करता है।

यदि वर्तमान परिवर्तनशील जीवनको सार्थक करना है तो व्यक्तित्वके मोहको त्याग निर्विकल्पता प्राप्त करनेके लिये अथक प्रयत्न करना चाहिये।

हो सकता है और न रामका प्रेम ही मिल सकता है। अब विचार यह करना है कि यदि कोई रामकी सत्ता ही स्वीकार न करे तो भी यह तो मानना ही होगा कि कामकी अपूर्णता किसीको अभीष्ट नहीं है। कामसे रहित जीवनकी माँग स्वाभाविक माँग है। इसी माँगको रामकी लालसाके नामसे आस्तिकोंने, नित्यजीवनके नामसे तत्त्वज्ञोंने और चिरशान्ति तथा दुःखकी निवृत्तिके नामसे भौतिकवादियोंने कहा।

हमें तो सभी वादोंका आदर करते हुए अपनी समस्या हल करनी है। समस्या सभी वादोंमें एक है और मान्यताएँ अनेक हैं। हमें मान्यतामें जीवनबुद्धि नहीं रखनी है, अपितु साधनबुद्धि रखनी है। साधनबुद्धिसे सभी मान्यताएँ आदरणीय हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि सभी साधनपद्धतियाँ मान्यताएँ हैं तो फिर सिद्धान्त क्या है? तो कहना होगा कि सिद्धान्त एक है, अनेक नहीं और उसका वर्णन नहीं हो सकता; प्रत्युत प्राप्ति हो सकती है। कारण कि वर्णन करनेकी सामर्थ्य सीमित है और सिद्धान्त असीम है। मान्यताका जन्म व्यक्तिकी रुचि तथा योग्यताके आधार-पर निर्भर है। सर्वांशमें दो व्यक्तियोंकी भी योग्यता तथा रुचि समान नहीं होती। इस दृष्टिसे साधनपद्धतिमें भेद होनेपर भी सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि सभीकी वास्तविक माँग एक है, अनेक नहीं। उस वास्तविक माँगका पता लगानेके लिये ही हमें प्राप्त-परिस्थितिका सदुपयोग करना है, उपभोग नहीं। परिस्थितिका उप-भोग तो हमें कामके जालमें ही आबद्ध करता है, जिससे मुक्त होना परम आवश्यक है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति उस अनन्तके प्रकाशसे

ही प्रकाशित है। अथवा यों कहो कि उसीकी अभिव्यक्ति है, परंतु परिवर्तनशील तथा सीमित होनेके कारण उससे अतीतकी ओर गतिशील होना आवश्यक है। उसके लिये हमें उस अनन्तहीके नाते ऊपरसे क्रियाशील तथा भीतरसे चिरशान्त रहना है। क्रियाशीलता हमें विद्यमान रागसे रहित बनायेगी और शान्ति नवीन राग उत्पन्न न होने देगी। रागरहित होते ही हम बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने लक्ष्यसे अभिन्न हो जायँगे, यह निर्विवाद सिद्ध है।

अब यह विचार करना है कि रागरहित होनेके लिये हमें परिस्थितिका सदुपयोग किस भावसे, किस प्रकारसे और किस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये करना चाहिये, तो कहना होगा, कि सर्वहितकारी तथा सर्वात्मभाव ही वास्तविक भाव है, विरक्ति तथा उदारतापूर्वक कार्य करनेका ढंग ही वास्तविक ढंग है और उस अनन्तसे अभिन्न होनेका उद्देश्यही वास्तविक उद्देश्य है। यदि परिस्थितिका सदुपयोग करनेमें उदारता तथा विरक्ति नहीं अपनायी गयी तो सर्वहितकारी भाव स्वार्थ-भावमें, सर्वात्मभाव देहभावमें और अनन्त नित्य चिन्मय जीवनका उद्देश्य भोगप्राप्तिमें बदल जायगा, जो वास्तविक उद्देश्य नहीं है। इस प्रकार परिस्थितिका सदुपयोग न हो सकेगा, अपितु परिस्थितिका उपभोग होने लगेगा, जो रागका हेतु है। अतः परिस्थितिका सदुपयोग करनेके लिये जब विरक्ति तथा उदारताको अपना लेना अनिवार्य होगा; तभी अनन्तसे अभिन्न होनेके उद्देश्यकी पूर्ति हो सकेगी।

परिस्थितिका उपभोग हमें कर्तृत्वके अभिमानमें आबद्धकर कर्ममें प्रवृत्त करता है और सुख-दुःखरूपी फलको प्राप्त कराता है। जिस प्रकार बीज, वृक्ष और फलमें जातीय एकता तथा गुणोंकी भिन्नता

है उसी प्रकार कर्ता, कर्म तथा फलमें जातीय एकता और गुणोंकी भिन्नता है; परंतु परिस्थितिका सदुपयोग कर्ताको साधक, कर्मको साधन तथा फलको साध्यके रूपमें अथवा प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पदके रूपमें अथवा जिज्ञासु, जिज्ञासा तथा तत्त्वज्ञानके रूपमें अथवा सेवक, सेवा और सेव्यके रूपमें बदल देता है।

जिस प्रकार कर्ता, कर्म और फलमें जातीय एकता है, उसी प्रकार साधक, साधन और साध्यमें; प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पदमें; जिज्ञासु, जिज्ञासा और तत्त्वज्ञानमें; तथा सेवक, सेवा और सेव्यमें भी जातीय एकता है। अतएव हमें अपनेको साधक, प्रेमी, जिज्ञासु और सेवक मानकर ही परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये। साधक साधन होकर, प्रेमी प्रेम होकर, सेवक सेवा होकर और जिज्ञासु जिज्ञासा होकर अपने-अपने लक्ष्यसे अभिन्न होते हैं। साध्य, प्रेमास्पद, तत्त्वज्ञान और सेव्य किसी एकहीके नाम हैं; क्योंकि सत्‌में कल्पनाभेद भले ही हो, पर जातीय तथा स्वरूपका भेद नहीं होता।

जब हमारी वास्तविक चाह परिस्थितियोंसे अतीतके जीवनकी है, तब हमें परिस्थितियोंका उपभोग न करके उनका सदुपयोग करनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। तभी हम अपने उद्देश्यकी पूर्ति करनेमें समर्थ हो सकेंगे। परिस्थितियोंके सदुपयोगमें किसी प्रकारकी भी असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है। प्राप्तका सदुपयोग ही परिस्थितिका सदुपयोग है।

व्यक्तित्वके मोहकी निवृत्ति

जीवनके अध्ययनसे हमें यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्तित्वके मोहने ही हमें अपने वास्तविक लक्ष्यसे अभिन्न नहीं होने दिया, कारण कि व्यक्तित्वका मोह हमें सीमित और परिवर्तनशील जीवनमें आबद्ध करता है।

यद्यपि विवेकदृष्टिसे किसी भी व्यक्तित्वका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, परंतु प्रमादवश व्यक्तित्वका अस्तित्व प्रतीत होता है। उस प्रतीतिमें सद्भाव होनेसे ही मोहकी उत्पत्ति होती है, जो अनेक विकार उत्पन्न करनेमें समर्थ है।

यह नियम है कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, उसीसे संयोग और मोह होता है एवं जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, उससे नित्य-योग तथा प्रेम होता है। संयोग और मोह कामनाओंमें आबद्ध कर भेद उत्पन्न करते हैं एवं नित्य-योग तथा प्रेम-कामनाओंका अन्त कर अभिन्नता प्रदान करते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि व्यक्तित्वके मोहने ही हमें अनन्तसे विमुखता तथा भिन्नता प्रदान की है।

यह सभी को मान्य होगा कि भिन्नतासे भेदकी उत्पत्ति होती है और भेदसे हिंसा, भय आदि दोष उत्पन्न होते हैं। भयभीत होकर ही प्राणी दूसरोंको भय देनेमें प्रवृत्त होता है और हिंसक बन जाता है। जब कि स्वभावतः सभीको अपनी रक्षा अभीष्ट

है अर्थात् अपने प्रति कोई भी हिंसा नहीं चाहता, तब फिर हिंसा का जीवनमें स्थान ही कहाँ है? पर व्यक्तित्वकी दासता हमें हिंसक बना देती है, जिससे हम परम प्रेमसे वञ्चित हो जाते हैं वास्तवमें परम प्रेम ही जीवन है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि व्यक्तित्वका मोह ही जीवनसे मृत्युकी ओर ले जाता है, जो किसीको भी अभीष्ट नहीं है।

यद्यपि स्वरूपसे भेद-जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, पर व्यक्तित्वके मोहके कारण अनेक भेद प्रतीत होते हैं। भेदसे सीमित प्यार और सीमित प्यारसे अनेक प्रकार के संघर्ष होने लगते हैं, जो विनाशके मूल हैं। इसके अतिरिक्त यदि हम विचार करें तो यह जान पड़ता है कि प्राप्त वस्तु आदिसे ममता और अप्राप्त वस्तुओंकी इच्छा उत्पन्न करनेमें भी व्यक्तित्वका मोह ही कारण है। प्राप्त वस्तुओंकी ममता हमें हानिसे तथा प्राप्त व्यक्तियोंकी ममता हमें वियोगके भयसे मुक्त नहीं होने देती और अप्राप्त वस्तुओं और व्यक्तियोंकी इच्छा हमें व्यर्थ चिन्तनसे रहित नहीं होने देती। वियोग तथा हानिका भय लोभ तथा मोहमें आबद्ध करता है और व्यर्थ चिन्तन हमें अचिन्त नहीं होने देता एवं न सार्थक चिन्तन ही उत्पन्न होने देता है। अचिन्त हुए बिना निर्विकल्पता नहीं आ सकती और निर्विकल्पताके बिना चिरशान्ति तथा नित्ययोगकी उपलब्धि नहीं हो सकती। चिरशान्तिके बिना आवश्यक सामर्थ्य-का विकास नहीं होता। सामर्थ्यके बिना जो करना चाहिये उसे कर नहीं पाते। कर्तव्यपरायणताके बिना जो मिलना चाहिये वह मिल नहीं पाता अर्थात् लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो पाती।

कर्तव्यपरायणता वर्तमान जीवनकी वस्तु है, परंतु प्राप्त वस्तु आदिकी ममता तथा अप्राप्त वस्तु आदिका चिन्तन हमें कर्तव्यनिष्ठ नहीं होने देते । प्राप्त वस्तुओंका सदुपयोग और व्यक्तियोंकी सेवा अभीष्ट है, उनके साथ ममता नहीं । प्राप्त वस्तुओंके सदुपयोगसे निर्लोभताका जन्म होता है और अप्राप्त वस्तुओंके चिन्तनके त्यागसे निर्लोभता पुष्ट होती है । निर्लोभता आ जानेपर दरिद्रता स्वतः मिट जाती है और फिर वस्तुओंकी दासता शेष नहीं रहती । वस्तुओंकी दासता से मुक्त होते ही व्यक्तियोंकी सेवा करनेका भाव स्वतः जाग्रत् होता है । व्यक्तियोंकी सेवा हमें मोहरहित बनानेमें समर्थ है । निर्मोहता आ जानेपर प्रेमरूपी सूर्य स्वतः उदय होता है और भेदरूपी अन्धकारको खाकर अभिन्नता प्रदान करता है, जो वास्तविक जीवन है ।

वास्तविक जीवन वर्तमानकी वस्तु है, भविष्यकी नहीं; अतः हमें जीवनके अध्ययनके द्वारा व्यक्तित्वके मोहसे रहित होनेके लिये वर्तमानमें ही सतत प्रयत्नशील होना चाहिये । यह तभी सम्भव हो सकता है, जब विवेकपूर्वक व्यक्तित्वके मोहको त्यागकर निर्लोभता, निर्मोहता प्राप्त करें अथवा निर्लोभता-निर्मोहतापूर्वक व्यक्तित्वके मोहका अन्त करें । यह अपने-अपने योग्यतानुसार जिसे जैसा सुगम प्रतीत हो, उसे उसीके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये । साधन-परायणता प्रत्येक व्यक्तिकी योग्यता तथा रुचिके अनुरूप ही सम्भव है ।

मान्यताका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना ही व्यक्तित्वके मोहको जन्म देता है । यद्यपि साधनरूप मान्यता कर्तव्यपरायणता

प्रदान करती है और कर्तव्यपरायणता विद्यमान रागको खाकर राग-रहित करनेमें समर्थ होती है, परंतु वह तब सम्भव है, जब हम मान्यताका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न करें। केवल साधन-बुद्धिसे जब जिस मान्यताकी आवश्यकता हो उसे अपनायें और उससे अतीत होकर व्यक्तित्वके मोहसे रहित हो जायँ। व्यक्तित्वके मोहसे रहित होते ही निर्वासना आ जायगी, वासनाओंका अन्त होते ही मनमें निर्विकल्पता, बुद्धिमें समता, हृदयमें निर्भयता और चित्तमें प्रसन्नता स्वतः आ जाती है। मनकी निर्विकल्पता तथा बुद्धिकी समता सब प्रकारके द्वन्द्वोंका अन्त करनेमें समर्थ है। द्वन्द्वोंका अन्त होते ही निःसंदेहता तथा परम प्रेमकी प्राप्ति होती है, जो सभीको अभीष्ट है।

हमारी वास्तविक आवश्यकता

वर्तमान परिवर्तनशील जीवनमें प्रथम प्रश्न यही है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता क्या है ? जिस प्रकार पथिक अपने निर्दिष्ट स्थानको विना माने अथवा बिना जाने मार्गका निर्णय नहीं कर सकता और न निश्चिन्ततापूर्वक चल ही सकता है, उसी प्रकार हम अपनी आवश्यकताको बिना जाने अथवा विना माने उसकी पूर्तिके लिये न तो निःसंदेहतापूर्वक साधनका निर्माण ही कर सकते हैं और न निर्णीत साधनका अनुसरण ही कर सकते हैं। अतः साधन-परायण होनेके लिये अपने साध्यका जानना अथवा मानना अनिवार्य हो जाता है।

यह नियम है कि जो जिस स्थितिमें आबद्ध होता है, वह उसीके अनुरूप अपनी चाहको जानता अथवा मानता है। परिवर्तन-शील स्थितिसे उत्पन्न होनेवाली चाह वास्तविक आवश्यकता नहीं हो सकती; क्योंकि स्थिति बदलनेसे चाह बदल जायगी और चाह बदलनेसे उसकी पूर्तिका साधन भी बदल जायगा। आवश्यकताका निर्णय होनेपर ही साधनका निर्णय हो सकेगा। साधनका निर्णय होनेपर ही साधनपरायणता सम्भव होगी। अतः वास्तवमें हमारी आवश्यकता है क्या? इसका निर्णय वर्तमानमें ही करना होगा। उसके लिये अपनी वर्तमान दशाका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। रुचि,

योग्यता और आवश्यकताका ज्ञान ही वर्तमान दशाका अध्ययन है। व्यक्तित्वके अभिमानमें आबद्ध प्राणी अप्राप्त परिस्थितियोंका ही आवाहन करता रहता है और उसीको अपनी आवश्यकता मान लेता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति सतत परिवर्तनशील है; परंतु व्यक्तित्वका मोह हमें परिस्थितियोंकी दासतासे मुक्त नहीं होने देता। परिस्थितियोंकी दासता वियोग, हानि तथा अपमान आदिका भय उत्पन्न करती है। यह सभीको मान्य होगा कि भय किसीको भी स्वभावसे प्रिय नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता सभी परिस्थितियोंसे अतीतकी है। परिस्थितियोंसे अतीत जीवन ही हमारा जीवन है। उसीमें प्रवेश करनेके लिये योग्यता, सामर्थ्य तथा रुचिके अनुरूप साधन-निर्माण करना है। आवश्यकताके ज्ञानकी दृढ़ता साधन-निर्माणमें समर्थ है और साधनपरायणता आवश्यकता-पूर्तिका हेतु है। इस दृष्टिसे साधन-निर्माण और साधनपरायणता वर्तमान जीवनकी वस्तु है। इस समस्याको भविष्यपर छोड़ना प्रमादके सिवा और कुछ नहीं है। प्रमादका साधनयुक्त जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

प्रमादके रहते हुए व्यक्तित्वका मोह सुरक्षित रहता है और व्यक्तित्वका महत्त्व बढ़ाने तथा उसको विभु बनानेके लिये हम अपनेको स्वावलम्बन, सदाचार तथा परोपकार आदि सद्गुणोंके अभिमानोंमें बाँध लेते हैं। यद्यपि समाजमें इन गुणोंका बड़ा आदर है; परंतु गुणोंका अभिमान व्यक्तित्वके मोहको ही पुष्ट करता है। स्वावलम्बी होनेके लिये सदाचार तथा शिक्षा अपेक्षित है और व्यक्तित्वको विभु बनानेके लिये परोपकारी होना आवश्यक है। व्यक्तित्व-

का मोह रहते हुए हमारा स्वावलम्बन भी परावलम्बन ही है। जैसे हम विद्वत्ताका उपयोग करनेके लिये विद्यार्थियोंका और सामर्थ्य-का उपयोग करनेके लिये असमर्थोंका आश्रय लेते हैं तथा उसके परिणाममें जो आदर, प्यार और वस्तुएँ मिलती हैं, उन्हें ही अपना जीवन मान लेते हैं। इस प्रकार हम ऊपरसे स्वावलम्बी और भीतरसे परतन्त्र ही बने रहते हैं। उस परतन्त्रताकी सुदृढ़ शृङ्खलाको तोड़नेके लिये हमें सद्‌गुणोंके रहते हुए भी उनके अभिमानसे मुक्त होना ही पड़ेगा, तभी हम निर्दोषतापूर्वक वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त कर सकेंगे, जो हमारी आवश्यकता है। आवश्यकता-पूर्तिके लिये अनिवार्य हो जाता है कि जिन इच्छाओं-ने उसे ढक लिया है, उनका अन्त कर दिया जाय। कोई भी इच्छा आवश्यकताको मिटा नहीं पाती; क्योंकि आवश्यकता उसकी है जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है और इच्छा उसकी है जिससे केवल मानी हुई एकता है। जिस प्रकार बादलोंका समूह सूर्यको मिटा नहीं पाता, अपितु नेत्र और सूर्यके बीच एक प्रति-बन्धमात्र ही सिद्ध होता है, उसी प्रकार इच्छाओंका समूह आव-श्यकताको मिटा नहीं पाता, केवल उसकी पूर्तिमें प्रतिबन्धमात्र ही सिद्ध होता है। जिस प्रकार सूर्य बादलोंके समूहको छिन्न-भिन्न कर अपनेको प्रकाशित करनेमें समर्थ है, उसी प्रकार आवश्यकताकी जागृति इच्छाओंके समूहको निवृत्त करनेमें समर्थ है। अतः आव-श्यकताकी जागृति ही इच्छाओंके अन्त करनेका मुख्य साधन है।

आवश्यकताके ज्ञानको सबल तथा स्थायी बनानेके लिये हमें वर्तमानका सदुपयोग और जिनसे हमारी जातीय एवं स्वरूपकी एकता

है उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा, जो नित्य-योग तथा नित-नव प्यार प्राप्त करानेमें समर्थ है। नित्ययोगसे चिर-शान्ति और शान्तिसे आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है।

नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करनेके लिये हमें माने हुए सम्बन्धका त्याग करना होगा। अब विचार यह करना है कि हमारा माना हुआ सम्बन्ध किससे है? अपनेको देह मान लेनेपर हमारा सम्बन्ध वस्तु, अवस्था, व्यक्ति आदिसे हो जाता है। वस्तुओंकी दासता लोभ और व्यक्तियोंकी दासता मोह एवं अवस्थाकी तद्रूपता जड़ता उत्पन्न करती है। लोभ, मोह तथा जड़तामें आबद्ध प्राणी परिस्थितियोंका दास बन जाता है। अपनेको देह मान लेने अथवा देहको अपना मान लेनेसे परिस्थितियोंकी दासता उत्पन्न होती है। परिस्थितियों-की दासता देहभावको पुष्ट करती है। यदि विवेकपूर्वक देहभावका त्याग कर दिया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक माना हुआ 'मैं' और माना हुआ 'मेरा' मिट जाता है, जिसके मिटते ही असंगता-पूर्वक नित्य-योग स्वतः प्राप्त होता है, उससे माना हुआ सम्बन्ध सदाके लिये मिट जाता है। फिर शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभीसे अपनी भिन्नताका अनुभव हो जाता है। तब वस्तु, व्यक्ति आदिकी कामनाएँ मिट जाती हैं। उनके मिटते ही वास्तविक आवश्यकता जाग्रत् होती है, जो अपनी पूर्तिमें आप समर्थ है।

वास्तविक आवश्यकताकी पूर्तिसे पूर्व हम संसारको चाहते हैं, पर संसार हमें नहीं चाहता और आवश्यकताकी पूर्ति होनेपर संसार हमें चाहता है, किंतु हम संसारको नहीं चाहते। यह बात भी

तभीतक कही जा सकती है जबतक सर्वांशमें व्यक्तित्वका मोह गल नहीं जाता। व्यक्तित्वका मोह गल जानेपर तो यह पता ही नहीं चलता कि संसार हमें चाहता है या हम संसारको नहीं चाहते हैं अथवा यों कहो कि हम और संसारका भेद मिट जाता है। फिर अपने पास मन, बुद्धि आदि भी नहीं रहते; वे सब उस अनन्तसे अभिन्न हो जाते हैं जिसके किसी अंशमात्रमें समस्त विश्व है।

वास्तविक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये हमें सर्वप्रथम प्राप्त-वस्तु, योग्यता आदिका सद्व्यय करना होगा और उसके बदलेमें मान, बड़ाई आदिको स्वीकार न करना होगा। कारण कि संग्रहका सद्व्यय विद्यमान रागकी निवृत्तिका हेतु है और उसके बदलेमें कुछ न लेनेसे नवीन रागकी उत्पत्ति न होगी। वर्तमान रागकी निवृत्ति तथा नवीन रागकी उत्पत्ति न होनेपर बड़ी ही सुगमतापूर्वक हमारा उस जीवनमें प्रवेश हो जायगा, जो दिव्य, चिन्मय एवं नित्य है।

प्राप्त वस्तु, योग्यता आदिको अपना मान लेना ईमानदारी नहीं है; क्योंकि जिस किसीको कुछ मिला है, वह उस अनन्त-हीकी देन है। अब यदि कोई यह कहे कि हमें जो कुछ मिला है, वह तो हमारे ही कर्मोंका फल है तो यह कहना होगा कि आरम्भमें कर्म आपने किस सामर्थ्यके द्वारा किया? तब विवश होकर यह मानना ही पड़ेगा कि जो कुछ मिला है, वह किसीकी देन है। कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि प्राप्तका उपयोग करनेमें व्यक्तिगत अधिकार है और उसमें ममता

करना भूल है। मिले हुए अधिकारका उपयोग साधन है और उसपर स्वत्व स्थापित करना असाधन है।

अब विचार यह करना है कि उस अनन्तकी ओरसे जो कुछ मिला है उसका सदुपयोग क्या है? तो कहना होगा कि प्राप्त बलसे निर्बलोंके अधिकारकी रक्षा और प्राप्त विवेकसे अविवेककी निवृत्ति करना अथवा अपने कर्तव्य और दूसरोंके अधिकारका ज्ञान ही मिले हुए बल और विवेकका सदुपयोग है।

बलका दुरुपयोग और विवेकका अनादर सभी दोषोंका मूल है, जिसका साधनयुक्त जीवनमें कोई स्थान नहीं है। बलके सदुपयोगसे बलका अभिमान गल जाता है और निर्बलोंकी सेवा हो जाती है। अभिमान गलते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। विवेकके आदरसे दीनता मिट जाती है और कर्तव्यनिष्ठताकी सामर्थ्य प्राप्त होती है। दीनता और अभिमान मिट जानेपर अहं-रूपी अणु टूट जाता है और फिर अनन्तसे अभिन्नता प्राप्त होती है, जो वास्तविक आवश्यकता है।

विवेक और प्रीतिसे ही वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति हो सकती है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं। विवेक और प्रीति श्रम नहीं है, अपितु स्वाभाविक विभूतियाँ हैं, जो उस अनन्तकी अहैतुकी कृपासे मिली हैं। हम उनकी दी हुई विभूतिसे ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। वे हमसे देश-कालकी दूरीपर नहीं हैं। उन्होंने हमारा त्याग नहीं किया है; हमीं उनसे विमुख हुए हैं। उस विमुखताको मिटानेके लिये ही उन्होंने हमें प्रीति और विवेक प्रदान किया है। विवेकसे अस्वाभाविक चाहकी निवृत्ति और प्रीतिसे स्वाभाविक

आवश्यकताकी पूर्ति स्वतः हो जाती है। अतः जीवनमें असफलताके लिये कोई स्थान ही नहीं है।

हमारे जीवनमें जो श्रम दिखाई देता है, वह तो केवल अस्वाभाविक चाहकी प्रवृत्तियोंमें है, स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्तिमें नहीं। यह नियम है कि 'प्रवृत्ति निवृत्तिमें विलीन होती है, पूर्तिमें नहीं।' इस दृष्टिसे अस्वाभाविक चाहकी पूर्ति सम्भव नहीं है। उसे तो निवृत्त ही करना होगा। अस्वाभाविक चाहकी निवृत्तिमें ही स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्तिकी सामर्थ्य निहित है। अस्वाभाविक चाहकी निवृत्तिमें विवेक अपेक्षित है, श्रम नहीं। कारण कि अस्वाभाविक चाहकी उत्पत्ति अविवेकसिद्ध है। जब विवेकरूपी सूर्य अविवेकरूपी अन्धकारको खा लेता है, तब अस्वाभाविक चाह मिट जाती है। जिसके मिटते ही प्रीति स्वतः उदय होती है, जो प्रीतमसे अभिन्न कर देती है। हमारा प्रीतम हमसे दूर नहीं है, हमींमें छिपा है। उसे उत्पन्न नहीं करना है, अपितु उसकी खोज करनी है। खोज वर्तमान जीवनकी वस्तु है, भविष्यकी नहीं। अपने खोये हुए प्रीतमको कहीं बाहर नहीं ढूँढ़ना है, प्रत्युत अपनेहीमें अपनेद्वारा उन्हें पाना है, कारण कि वे अपनेहीमें अन्तर्निहित हैं। अतः अस्वाभाविक चाहके मिटानेमें और स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्त्तिमें प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है।

मान्यता, विधान और जीवन की एकता

हमारे सभी प्रश्नोंके मूलमें एक ही बात है कि हम अपने अस्तित्वको किस रूपमें स्वीकार करते हैं। अपने अस्तित्वको स्वीकार करनेमें तो किसीको कोई आपत्ति ही नहीं है; पर उसका वास्तविक अर्थ क्या है, इसे तो कोई बिरले ही जान पाते हैं। हमारी सभी मान्यताएँ हमें अस्तित्वके स्वरूपमें भासती हैं। यद्यपि हम एक हैं और मान्यताएँ अनेक; परंतु एक कालमें एक ही मान्यताका प्रभाव तथा सद्भाव प्रतीत होता है। हाँ, यह अवश्य है कि मान्यताका परिवर्तन बड़ी ही तीव्र गतिसे होता है। जैसे—जो व्यक्ति अपने माता-पिताके सामने पुत्र है, वही पुत्रके सामने पिता है और वही पत्नीके लिये पति है और बहिनके लिये भाई है। इतना ही नहीं, पड़ोसियोंके लिये पड़ोसी, नगरके लिये नागरिक, देशके लिये देशवासी और समाजके लिये एक सदस्य भी है। पर ये सभी मान्यताएँ केवल अपनेको देह मान लेनेपर ही निर्भर हैं। इतनेहीमें मान्यताएँ समाप्त नहीं हो जातीं। मत, सम्प्रदाय, दल, विचारधारा आदिके अनुरूप भी मान्यताएँ प्रकाशित होती हैं।

जो मान्यताएँ साधनरूप हैं, वे कर्तव्यका पाठ पढ़ाती हैं और जो मान्यताएँ असाधनरूप हैं, वे हमें दोषी बनाती हैं। साधनरूप मान्यताएँ वे हैं, जो विद्यमान रागकी निवृत्तिमें और दूसरोंके

अधिकारकी पूर्तिमें समर्थ हैं और असाधनरूप मान्यताएँ वे हैं, जो रागकी वृद्धिमें और दूसरों के अहितमें हेतु हैं। असाधनरूप मान्यताओंका त्याग अनिवार्य है और साधनरूप मान्यताओंके अनुरूप साधनपरायण होकर रागरहित होना आवश्यक है तथा रागरहित होकर वास्तविक अस्तित्वसे अभिन्न होना है। अर्थात् मान्यताओंसे अतीतके जीवनमें प्रवेश करना है।

यह सभीको मान्य होगा कि व्यक्तिमें किसी-न-किसी प्रकारका राग विद्यमान है ही, जिसकी निवृत्ति अनिवार्य है। यह हम भले ही न जानें कि राग का आरम्भ कबसे हुआ, पर रागरहित होनेकी रुचि अवश्य है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि रागसे हमारी जातीय एवं स्वरूपकी एकता नहीं है; क्योंकि राग रहते हुए हम जड़ता एवं परतन्त्रता आदि दोषोंमें आबद्ध रहते हैं, जो स्वभावसे प्रिय नहीं है। विद्यमान रागकी निवृत्तिके लिये ही हमें वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति मिली है। अतः रागनिवृत्तिके लिये ही प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना है। परिस्थितिको जीवन मानकर उससे तद्रूप नहीं रहना है। परिस्थितिके सदुपयोगके लिये ही हमें उन स्वीकृतियोंको अपनाना है जो साधनरूप हैं। साधनरूप स्वीकृतिमें बीजरूपसे कर्तव्यका विधान निहित है। उसकी जानकारीके लिये हमें अपने जाने हुए असत् तथा दोषका त्याग करना है, जिसके करते ही साधनरूप मान्यताके अनुसार कर्तव्य-परायणता स्वतः प्राप्त हो जायगी, जिससे जगत् और जगत्-पतिके अधिकारकी रक्षा होगी तथा राग अनुरागमें और भोग योगमें स्वतः बदल जायगा।

अब यह विचार करना है कि जगत् और जगत्-पतिका क्या अधिकार है? यह नियम है कि जो किसी एकका अधिकार होता है, वही किसी दूसरेका कर्तव्य होता है। अतः जगत् और जगत्-पतिका अधिकार ही अपना कर्तव्य है। जगत्से प्राप्त संग्रहका सद्व्यय ही जगत्का अधिकार है। इस दृष्टिसे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओंद्वारा हमें जगत्की सेवा करनी है। ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओंके रूपमें जो भी सौन्दर्य प्राप्त है उसके द्वारा भी जगत्के अधिकारकी रक्षा करनी है। पर उसके बदलेमें जगत्से कुछ लेना नहीं है। इतना ही नहीं, यदि बिना ही माँगे जगत्से कुछ मिले उसे भी जगत्हीको वापस कर देना है, नहीं तो नवीन राग उत्पन्न हो जायगा, जो अवनतिका मूल है।

अब यह विचार करना है कि जगत्पति हमसे क्या आशा करते हैं? उनका हमपर क्या अधिकार है? जिनके अंशमात्रमें समस्त जगत् विद्यमान है उन्हें किसी वस्तु आदिकी तो अपेक्षा हो ही नहीं सकती। जिनके अनन्त सौन्दर्यसे सभीको सौन्दर्य मिला हो उन्हें किसी परिवर्तनशील सौन्दर्यकी आवश्यकता हो ही नहीं सकती। जिनकी सत्तासे ही सभीको सत्ता मिली हो उन्हें किसी अस्तित्वकी तो अपेक्षा है ही नहीं। तो फिर हम उन्हें क्या दे सकते हैं? केवल यही दे सकते हैं कि हम सदैव तेरे हैं और तुम सदैव मेरे हो। अर्थात् उनसे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना ही उनके अधिकारकी रक्षा है।

जगत्के अधिकार जगत्को दे डालनेपर हम जगत्से मुक्त हो जाते हैं और जगत्पतिके अधिकारकी रक्षा करते ही हम उनसे

अभिन्न हो जाते हैं। अथवा यों कहो कि उनका प्रेम प्राप्त हो जाता है।

साधनरूप मान्यता और उसके विधानके अनुरूप जीवन हमें मान्यतासे अतीत करनेमें समर्थ है। इतना ही नहीं, मान्यताके अनुरूप जीवन होनेपर जीवन मान्यताका चित्र बन जाता है, जैसे क्षमाशीलका जीवन क्षमाका प्रतीक बनकर क्षमाके प्रकाशनमें समर्थ होता है। अब कोई यदि यह कहे कि ऐसा तो सम्भव नहीं है तो कहना होगा कि क्रोध आनेपर क्या क्रोधका परिचय क्रोधीके जीवनरूप चित्रसे नहीं होता? हमने अपने जीवनमें क्षमा, करुणा, प्रेम, त्याग आदिका चित्र न देखा हो पर क्रोध, कठोरता, मोह आदिका चित्र तो अनेक बार देखा ही है। जब दोषोंका प्रकाशन हमारे जीवनरूपी चित्रोंसे हो सकता है, तब क्या दिव्य गुणोंका प्रकाशन जीवनरूपी चित्रोंसे नहीं हो सकता? अवश्य हो सकता है। अतः साधनरूप मान्यता, उसके विधान और जीवनकी अनुरूपताका प्रकाशन हमारे जीवनरूप चित्रसे अवश्य होना चाहिये। सच तो यह है कि जीवनरूपी चित्रकी तो कौन कहे काष्ठ, पत्थर आदिकी प्रतिमाएँ देखकर भी दिव्य गुणोंका प्रकाशन होने लगता है। इतना ही नहीं, जिन-जिन स्थानोंपर महापुरुषोंने निवास किया है अथवा विचरे हैं उन स्थानोंका प्रभाव भी उनके जीवनका दर्शन कराता है। आज जो हमारी साधनरूप मान्यता हमारे जीवनसे प्रदर्शित नहीं होती, उसका एकमात्र कारण मान्यताविधान और जीवनमें भिन्नता ही है, और कुछ नहीं यह नियम है कि साधनरूप जीवनसे साधनका और असाधनरूप जीवनसे असाधनका

प्रचार स्वतः होता है। यद्यपि असाधनरूप मान्यताओंको कोई भी अपनी ओरसे घोषित नहीं करता कि मैं चोर हूँ, धोखा देना जानता हूँ, मिथ्यावादी हूँ इत्यादि, परंतु जीवनके द्वारा उन दोषोंका प्रचार स्वतः होने लगता है। अर्थात् बुराइयोंकी कहीं पाठशाला नहीं खोली जाती। प्रचार तो सदाचार आदि दिव्य गुणोंका ही किया जाता है; परंतु दोषोंका प्रचार स्वतः होने लगता है; इसका एकमात्र कारण हमारा साधनरहित जीवन ही है। हमारे मत, सम्प्रदाय, विचारधारा आदिका विरोध सिद्धान्तरूपसे नहीं होता, अपितु हमारा दोषयुक्त जीवन ही हमारे सिद्धान्तोंका विरोध करानेमें हेतु है। हम अपने सिद्धान्तोंकी महिमा वर्णन करके उनका प्रचार चाहते हैं; पर वास्तविक प्रचार तो उन सिद्धान्तोंका होगा, जिनका चित्र हमारे जीवनमें दिखायी देता है। अर्थात् दोषयुक्त जीवनसे दोष और निर्दोष जीवनसे निर्दोषता स्वतः फैलेगी, यह निर्विवाद सिद्ध है। साधनरूप सभी मान्यताएँ हमें निर्दोष बनानेमें समर्थ हैं और निर्दोषता आ जानेपर तत्त्वजिज्ञासा तथा प्रियकी लालसा स्वतः जाग्रत् होगी, यह नियम है। तत्त्वजिज्ञासा तत्त्वसे और प्रियलालसा प्रियसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। हम अशुभ संकल्पोंके त्याग एवं शुभ संकल्पोंकी पूर्तिपूर्वक निर्विकल्पता, जिज्ञासा तथा प्रियलालसाको जाग्रत् करनेमें समर्थ हैं। प्रियलालसा और जिज्ञासाकी पूर्तिका सम्बन्ध हमारे वर्तमान जीवनसे है। शुभ संकल्पोंकी पूर्तिके लिये भले ही काल अपेक्षित हो पर अशुद्ध संकल्पोंका त्याग और जिज्ञासा तथा लालसाकी पूर्तिका सम्बन्ध तो हमारे वर्तमान जीवनसे ही है। अतः यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अशुद्ध संकल्पोंके त्यागमें और तत्त्वजिज्ञासाकी पूर्ति एवं प्रेमकी प्राप्तिमें प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन है।

——

(६)

आशा और निराशा किसकी ?

वर्तमान जीवनका अध्ययन करनेपर यह विदित होता है कि जिस परिवर्तनशील जीवनसे हमें निराश होना चाहिये उसकी हम आशा करते हैं। अर्थात् व्यक्तित्वके मोहको सुरक्षित रखना चाहते हैं और अनन्त नित्य जीवनसे निराश होकर उससे विमुख रहते हैं। अतः जिससे निराश होना चाहिये उसकी आशा करना और जिसकी नित-नव-आशा रहनी चाहिये उससे निराश होना हमारा अपना ही बनाया हुआ दोष है। इस दोषके कारण जो वर्तमानमें प्राप्त हो सकता है उसके लिये हम भविष्यकी आशा करते हैं अथवा उससे निराश होते हैं और जो निरन्तर हमसे दूर हो रहा है उसको बनाये रखनेके लिये हम वर्तमानमें ही सतत प्रयत्नशील रहते हैं अथवा उसकी नित-नव आशा रखते हैं। परिवर्तनशील जीवनकी आशा केवल मोह तथा आसक्ति ही प्रदान करती है, और कुछ नहीं। क्या आसक्ति तथा मोहसे हम चिरशान्ति एवं स्थायी प्रसन्नता पा सकते हैं? कदापि नहीं। इस दृष्टिसे मोह तथा आसक्तिका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

अब विचार यह करना है कि मोह तथा आसक्तिकी निवृत्ति कैसे हो। उसके लिये हमें सर्वप्रथम जिसकी आशा नहीं करनी चाहिये उससे निराश होना होगा। परिवर्तनशील अनित्य जीवनकी

निराशा अनन्त नित्य जीवनकी आशा जाग्रत् करती है। ज्यों-ज्यों हम वर्तमान अनित्य जीवनसे निराश होते जाते हैं त्यों-त्यों हमें जीवनहीमें मृत्युका अनुभव होता जाता है। ज्यों-ज्यों जीवनहीमें मृत्युका अनुभव होता जाता है त्यों-त्यों अनन्त नित्य जीवनकी नित-नव आशा सबल तथा स्थायी होती जाती है। जिस कालमें अनित्य जीवनसे पूर्णतया निराश हो जाते हैं उसी कालमें हम सब ओरसे विमुख होकर अपनेहीमें अनन्त नित्य जीवनका अनुभव कर अमर हो जाते हैं। इस दृष्टिसे हमें मृत्युसे अमरत्वकी ओर गतिशील करनेमें अनित्य जीवनसे निराशा और नित्य-जीवनकी नित-नव आशा ही समर्थ हैं।

हमें वर्तमान जीवनका निरीक्षण करते हुए इस बातपर विशेष ध्यान देना है कि जो अवस्था भूतकालमें थी, वह अब नहीं है और जो दशा वर्तमानमें है, वह भविष्यमें न रहेगी, यह जानते हुए भी प्राप्त परिस्थितिको बनाये रखनेका प्रयास और अप्राप्त परिस्थितिकी चाह करना क्या निरर्थक नहीं है? यह सभीको मान्य होगा कि निरर्थक प्रयासमें केवल प्राप्त सामर्थ्यका अपव्यय ही होगा। यह नियम है कि सामर्थ्यका अपव्यय ही असमर्थताका हेतु है। अतः सामर्थ्यका सदुपयोग करनेके लिये हमें निरर्थक प्रयाससे सर्वदा बचना चाहिये और सार्थक प्रयासके लिये तत्पर रहना चाहिये। सार्थक प्रयास क्या है? अनित्य जीवनसे निराश होकर अनन्त नित्य जीवनको वर्तमानमें प्राप्त करनेका उद्योग ही सार्थक प्रयास है। यद्यपि अनित्य जीवनकी आशामें कोई लाभ नहीं और उससे निराश होनेमें कोई हानि नहीं, परंतु हम प्रमादवश निराश होनेसे

भयभीत हो जाते हैं और आशा करनेमें सुखका स्वप्न देखने लगते हैं, जिसकी पूर्ति कभी सम्भव नहीं है।

यह प्रश्न हमें वर्तमानमें हल करना है कि अनित्यसे निराश क्यों नहीं हो पाते और नित्यको प्राप्त क्यों नहीं कर पाते ? इसका एकमात्र कारण है प्राप्त विवेकका अनादर, क्योंकि अनित्यकी आशा और अनन्त नित्यसे निराशा अविवेकसिद्ध है। यद्यपि अनित्य सर्वदा उस अनन्त नित्यमें ही निवास करता है, फिर भी उसकी आशा साधकको नित्यसे विमुख रखती है। अथवा यों कहो कि अनित्य जीवन नित्य जीवनकी ही लालसा है, और कुछ नहीं। यह नियम है कि लालसामें सत्ता उसीकी होती है जिसकी वह होती है। इस दृष्टिसे नित्य जीवनकी लालसा अनित्यको खाकर अनन्त नित्यसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। नित्य अनित्यका प्रकाशक है, नाशक नहीं और नित्यकी जिज्ञासा अनित्यको खाकर नित्यसे अभिन्न कर सकती है। इस दृष्टिसे नित्यकी जिज्ञासा नित्यसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तु है, पर उसकी जागृति तभी सम्भव होगी जब हमें जिससे निराश होना चाहिये उसकी आशा न करें और जिसकी आशा करनी चाहिये उससे निराश न हों। ऐसा करते ही हम वर्त-

करनेका होनेमें परिवर्तन

जीवनके निरीक्षणसे हमें यह प्रकाश मिलता है कि करनेकी रुचिमें ही जीनेकी आशा तथा पानेका लालच निहित है और जीनेकी आशामें ही मृत्युका भय विद्यमान है, जो किसीको अभीष्ट नहीं है। मृत्युके भयसे रहित होनेके लिये जीनेकी आशाका त्याग और जीनेकी आशाके त्यागके लिये अप्राप्तके लालचका त्याग और अप्राप्तके लालचके त्यागके लिये प्राप्तका सदुपयोग अनिवार्य है। प्राप्तके सदुपयोगसे ही करनेकी रुचिका अन्त होगा। करनेकी रुचिका अन्त होनेपर ही कर्त्ता कर्मके फलसे मुक्त होकर अपने अभीष्ट लक्ष्य—अमरत्वको प्राप्त कर सकता है, जो वर्तमान जीवनकी वस्तु है।

अब विचार यह करना है कि करनेकी रुचिका कारण क्या है? तो कहना होगा कि देहाभिमान ही एकमात्र करनेकी रुचिका हेतु है, जो अविवेकसिद्ध है। प्राप्त विवेकके अनादरका ही दूसरा नाम अविवेक है। इसके अतिरिक्त अविवेककी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अतः विवेकका आदर करते ही अविवेक तथा उसका कार्य देहाभिमान स्वतः गल जायगा। देहाभिमानके गलते ही करनेकी रुचि सदाके लिये मिट जायगी। करनेकी रुचिका अन्त होते ही जो होना चाहिये वह स्वतः होने लगेगा, जो वास्तवमें साधन-तत्त्व है।

करने और होनेमें अन्तर केवल यही है कि करना श्रमसाध्य है, सीमित है और उसका परिवर्तन अनिवार्य है। होना स्वाभाविक

है, असीम है और नित्य है। करनेका परिणाम भोग, रोग तथा मृत्यु है और होनेका परिणाम योग तथा शाश्वत जीवन है। करनेके अन्तमें अरुचि तथा नीरसता स्वाभाविक है और होनेमें नित-नव उत्कण्ठा तथा सरसता है। करनेमें अभिमानकी वृद्धि और होनेमें निरभिमानता स्वतःसिद्ध है। करना मृत्युकी ओर और होना अमरत्वकी ओर ले जाता है। करना जड़तामें आबद्ध करता है और होना चिन्मय जीवनमें प्रवेश कराता है। करनेमें स्वार्थभावकी वृद्धि होती है और होनेमें सेवाभाव सहज ही आ जाता है। करनेमें मोह तथा क्रोध और होनेमें प्रेम और क्षमा स्वतःसिद्ध है, कारण कि समस्त दिव्य गुणोंका विकास होनेमें है, करनेमें नहीं। करनेकी रुचिका अन्त होते ही होनेके साम्राज्यमें प्रवेश होता है।

अब विचार यह करना है कि करनेकी रुचिका अन्त कैसे हो? करनेकी रुचिका अन्त करनेके लिये हमें यह जानना होगा कि करनेका उपयोग क्या है? करनेका उपयोग है विद्यमान रागकी निवृत्ति तथा दूसरोंके अधिकारकी रक्षा। अथवा यों कहो कि करनेकी रुचिका अन्त दूसरोंके अधिकारकी रक्षा और अपने अधिकारके त्यागमें निहित है। कारण कि दूसरोंके अधिकारकी रक्षासे विद्यमान रागकी निवृत्ति होगी और अपने अधिकारके त्यागसे नवीन रागकी उत्पत्ति न होगी। रागरहित होते ही करना होनेमें बदल जायगा, जो वास्तविक साधन है।

अब इस समस्याको हल करना है कि दूसरोंके अधिकारकी रक्षा एवं अपने अधिकारका त्याग किस विचारसे, किस भावसे और किस प्रकारसे करना चाहिये? हमें किसीसे कुछ भी लेना नहीं

है, इस विचारसे तो अपने अधिकारका त्याग हो सकता है। कारण कि लेनेकी भावना नवीन राग तथा अधिकार-लालसामें आबद्ध करती है, जो असाधन है। अधिकार-लालसाका त्याग होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मोहता एवं निर्लोभतापूर्वक प्रभुके नाते, विश्वके नाते अथवा सर्वात्मभावसे स्वतः होने लगती है। जिसके होनेसे कर्त्ता अपने अभीष्ट भावसे विलीन हो जाता है; क्योंकि प्रवृत्ति जिस भावसे आरम्भ होती है कर्त्ता प्रवृत्तिके अन्तमें उसी भावमें विलीन होता है। उपर्युक्त तीनों भाव रसरूप हैं और लक्ष्यसे अभिन्न करनेमें समर्थ हैं। अतः हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति कार्यकुशलता, भावकी पवित्रता तथा लक्ष्यपर दृष्टि रखकर ही होनी चाहिये, तभी सहज-निवृत्ति एवं रागरहित जीवन प्राप्त होगा। रागरहित होते ही कामनाओंका अन्त एवं निःसंदेहता तथा प्रेमकी प्राप्ति होगी, जो वास्तविक जीवन है।

वे सभी प्रवृत्तियाँ त्याज्य हैं, जिनमें सभीका हित, प्रभुकी प्रसन्नता एवं सर्वात्मभाव निहित न हो। सभीके हितमें अपना हित और प्रभुकी प्रसन्नतामें ही अपनी प्रसन्नता स्वतःसिद्ध है। अतः अपने हित और अपनी प्रसन्नताके लिये सभीका हित और प्रभुकी प्रसन्नता ही मुख्य साधन है।

भौतिकवादकी पराकाष्ठा सर्वहितकारी सद्भावमें, अध्यात्मवादकी पराकाष्ठा सर्वात्मभावमें और विश्वासकी पराकाष्ठा प्रभुकी प्रसन्नतामें निहित है। इन सभीकी एकतामें ही वास्तविक जीवन है। इसकी प्राप्ति होनेपर ही करनेकी रुचि, पानेका लालच, जीनेकी आशा और मृत्युका भय नहीं रहता।

गुणोंके अभिमानका त्याग

वर्तमान जीवनका निरीक्षण करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि अनित्य जीवनसे निराशा ही हमें नित्य-जीवनसे अभिन्न कर सकती है। दो प्रकारके प्राणी ही अनित्य जीवनसे निराश होते हैं। एक तो वे जिन्होंने कर्तव्यनिष्ठ होकर सभीके अधिकारोंकी रक्षा की है और अपने अधिकारोंका त्याग किया है। ऐसे महापुरुषोंको अनित्य जीवन अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता। दूसरे वे निर्बल प्राणी, जो अनित्य जीवनसे निराश होते हैं, जिन्हें संसारने ठुकरा दिया है अर्थात् जिनमें कोई ऐसा गुण नहीं रह गया है जिसकी आवश्यकता संसारको हो। इन दोनों प्राणियोंमें अन्तर केवल इतना होता है कि बेचारा निर्बल प्राणी संसारकी आशा करता है पर संसार उसे स्थान नहीं देता और कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणीकी संसार आशा करता है पर वह संसारको अपनी पूर्तिका हेतु नहीं मानता। जिस प्रकार छायाके पीछे दौड़नेवाला छायाको नहीं पकड़ पाता और जो छायासे विमुख हो जाता है उसे भी छाया नहीं पकड़ पाती, उसी प्रकार संसारको चाहनेवाला भी संसारको नहीं पकड़ पाता और जो संसारसे विमुख हो जाता है उसे संसार भी नहीं पकड़ पाता है। स्वरूपसे दोनों ही संसारसे अलग हैं पर एककी चाहमें संसार है और दूसरेकी संसारको चाह है। यदि बेचारा पतित प्राणी भी यह जानकर कि संसार तो मुझे अपना ही नहीं सकता, संसारसे निराश हो जाय और जीवनहीमें मृत्युका अनुभव कर डाले तो वह भी उस अनन्तपर निर्भर होकर

संसारसे विमुख हो सकता है। संसारसे विमुख होते ही वह भी उसी स्थितिमें आ जाता है जिस स्थितिमें बड़े-से-बड़ा महापुरुष आता है। अथवा यों कहो कि उसे भी संसारकी चाह नहीं रहती। संसारकी चाहसे रहित होते ही पतित और पवित्र, तुच्छ और महान्, निर्बल और सबल सब समान हो जाते हैं।

जो गुणोंका अभिमानी है, परदोषदर्शी है, वह कभी भी अनित्य जीवनसे निराश नहीं हो सकता। कारण कि गुणोंका अभिमान देहाभिमानको गलने नहीं देता है और परदोपदर्शन गुणोंके अभिमानको पुष्ट करता रहता है। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि पश्चात्ताप करनेवाला पतित अनित्य जीवनसे निराश हो सकता है, पर गुणोंका अभिमानी और परदोपदर्शी कभी अनित्य जीवनसे निराश नहीं हो सकता। यह नियम है कि अनित्य जीवनसे निराश होते ही नित्य जीवनकी उत्कट लालसा जाग्रत् होती है, जो नित्य जीवनसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। कारण कि अनन्त नित्यजीवनकी उत्कट लालसा अनित्य जीवनकी इच्छाओंको खा लेती है। जिस प्रकार ओपधि रोगको खाकर स्वयं आरोग्यतासे अभिन्न हो जाती है, उसी प्रकार अनन्त नित्य जीवनकी उत्कट लालसा भोगेच्छाओंको खाकर अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे अभिन्न हो जाती है।

अनित्य जीवनसे निराश हो जाना तथा अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना ही प्राणीका परम पुरुषार्थ है, जिसके करनेमें कोई भी परतन्त्र नहीं है; क्योंकि सम्बन्ध तोड़ने और जोड़नेकी स्वाधीनता सभीको प्राप्त है। किसी वस्तुके प्राप्त होनेपर भी उससे सम्बन्ध तोड़ा जा सकता है और किसीकी अप्राप्तिमें भी

सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। सम्बन्ध तोड़नेमें विमुखता और संबंध जोड़नेमें सम्मुखता अपेक्षित है। यह नियम है कि किसीकी विमुखता किसीकी सम्मुखतामें स्वतः बदल जाती है। अतः सम्बन्ध तोड़नेमें ही सम्बन्ध जोड़नेकी सामर्थ्य निहित है। अनित्य जीवनसे निराश होते ही किसी प्रकारका राग-द्वेष शेष नहीं रहता। रागद्वेष-रहित होते ही त्याग और प्रेम स्वतः आ जाता है। त्यागसे चिरशांति तथा अमर जीवन और प्रेमसे अगाध अनन्तरस स्वतः प्राप्त होता है।

निर्दोषता दो ही अवस्थाओंमें प्राप्त हो सकती है—प्राप्त बलका सदुपयोग तथा विवेकका आदर करनेपर अथवा निर्बल होकर निर्भर होनेपर। निर्बल वही है जो कुछ नहीं कर सकता। जो कुछ नहीं कर सकता उससे कोई बुराई भी नहीं हो सकती; क्योंकि बुराई करनेके लिये भी बल अपेक्षित है। इस दृष्टिसे बलका दुरुपयोग तथा विवेकका अनादर करना ही दोषका हेतु है, निर्बलता नहीं। इतना ही नहीं, अपनी निर्बलताका परिचय ही अनन्तकी महिमापर विश्वास करानेमें समर्थ होता है। इस दृष्टिसे अपनी निर्बलताका ज्ञान ही विकासका हेतु है। गुणोंका अभिमान उन्हीं प्राणियोंमें निवास करता है जो निर्बल होनेपर भी अपनेको निर्बल नहीं मानते हैं तथा किसी आंशिक गुण एवं परदोषदर्शनके आधारपर अपनेको गुणोंके अभिमानमें आवद्ध रखते हैं। यद्यपि गुणोंका अभिमान सभी दोषोंकी भूमि है, परंतु गुणोंका अभिमानी इस रहस्यको जान नहीं पाता है।

पर-दोषदर्शन करते हुए गुणोंका अभिमान गल नहीं सकता। अब यदि कोई यह कहे कि दोषीको दोषी क्यों न माना जाय तो कहना होगा कि बेचारा दोषी दोष-कालमें ही तो दोषी है, उसके

पश्चात् वह दोषी कैसे हो सकता है। प्राकृतिक नियमके अनुसार तो यदि किये हुए दोषको न दुहराये तो बड़ेसे बड़ा दोषी भी निर्दोष है; क्योंकि वर्तमानकी निर्दोषता ही वास्तविक निर्दोषता है; भूत-कालके आधारपर तो कोई भी निर्दोष सिद्ध नहीं हो सकता। मानव-कोटिका कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो जन्मसिद्ध निर्दोष हो। सभी दोषोंका मूल एकमात्र राग है और जन्मका हेतु भी राग है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि किसीको जन्मसिद्ध निर्दोष मानना सम्भव नहीं है। निर्दोषता तो साधनयुक्त जीवनका फल है। साधनका सम्बन्ध वर्तमानसे है, भूतकालसे नहीं। जिसे हमने दोषी माना है, वह यदि साधनद्वारा निर्दोष हो गया है तो क्या उस निर्दोषीको दोषी मानना हमारा महान् दोष नहीं है ?

अपने दोषके सम्बन्धमें तो स्पष्ट ज्ञान सभीको है, पर दूसरोंके दोषके सम्बन्धमें किसी भी व्यक्तिको पूरा ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि दोष प्रायः किसीके सामने तो किये नहीं जाते, दूसरोंसे सुनकर तथा अनुमानसे ही किसीको दोषी मान लिया जाता है। सुनी हुई, देखी हुई और अनुमान की हुई बातमें तथा वास्त-विकतामें बड़ा अन्तर होता है। जैसा सुनते हैं वैसा ही सत्य है, इसमें तो संदेह है ही, पर कभी-कभी तो जैसा देखनेमें आता है वह भी यथार्थ नहीं होता। तो फिर किसीकी कोई बात सुनकर उसे वास्तवमें दोषी मान लेना कहाँतक न्यायसंगत है ?

सच तो यह है कि परदोषदर्शनका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। इतना ही नहीं, बड़ेसे बड़ा दोषी निर्दोष हो सकता है, परन्तु परदोषदर्शीका निर्दोष होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

कारण कि बेचारे दोषीके जीवनमें तो अनेक प्रकारके भय, अनादर तथा कठिनाइयाँ आती हैं, जिनसे दुखी होकर दोषी दोषका त्याग कर सकता है; किंतु परदोषदर्शीके जीवनमें तो कोई कठिनाई नहीं आती, केवल मिथ्याभिमानकी ही वृद्धि होती रहती है, जो सभी दोषोंका हेतु है। इस दृष्टिसे परदोषदर्शन दोषकी अपेक्षा भी महान् दोष है।

परदोषदर्शनकी भाँति अपने किये हुए दोषोंका चिन्तन करते रहना और उनका त्याग न करना भी महान् दोष ही है। निर्दोष होनेके लिये वर्तमानमें ही प्रयत्नशील होना है। वह तभी सम्भव है जब हम भूतकालके दोषोंका चिन्तन न करें, अपितु उनका त्याग करके जीवनमें निर्दोषताकी स्थापना करें। अब यदि कोई यह कहे कि हम किये हुए दोषोंके त्यागमें और निर्दोषताकी स्थापनामें अपनेको असमर्थ पाते हैं तो कहना होगा कि असमर्थताकी वेदना किसी समर्थपर निर्भर होनेकी सामर्थ्य प्रदान करती है। अथवा स्वतः आवश्यक शक्तिका विकास करती है, क्योंकि वर्तमानकी वेदना ही भविष्यकी सत्ता होती है। इस दृष्टिसे हमें निर्दोष होनेसे निराश नहीं होना चाहिये। कारण कि निर्दोषतासे हमारी जातीय तथा स्वरूपकी एकता है और दोषोंसे केवल मानी हुई एकता है; क्योंकि दोष आते-जाते रहते हैं, स्थायीरूपसे नहीं रहते। दोषके न दुहरानेपर सभी निर्दोष होते हैं। दोषोंकी वृद्धि दोषोंके दुहरानेपर निर्भर है। यदि दोषोंको न दुहराया जाय तो सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। अनित्य जीवनसे निराश होनेपर दोषोंके न दुहरानेकी सामर्थ्य स्वतः आ जाती है; अतः हमें वर्तमानमें ही अनित्य जीवनसे निराश हो जाना चाहिये।

अनित्य जीवनसे निराशा

अनित्य जीवनकी निराशाके समान न तो कोई विवेक है, न कोई त्याग है, न कोई प्रायश्चित्त है और न कोई तप है। कारण कि अनित्य जीवनसे निराश होते ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही जीवन-हीमें मृत्युका अनुभव और अमरत्वकी प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार मृत्युका दण्ड पानेवाले व्यक्तिको किसी अन्य अपराधका फल नहीं भोगना पड़ता, उसी प्रकार अनित्य जीवनसे निराश होनेवाले साधकको किसी भी कर्मका फल नहीं भोगना पड़ता। कारण कि कर्मके संस्कार जिस भूमिमें विद्यमान रहते हैं, वह भूमि ही सदाके लिये मिट जाती है। जिस प्रकार भूमिरहित बीज उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार अहं-भावरूपी भूमिके बिना कर्म-संस्कार फलित नहीं होते। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अनित्य जीवनसे निराश होना ही महान् साधन है, जो सभी निर्बलताओंको खाकर अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे अभिन्न करनेमें समर्थ है।

सभी साधनोंका समावेश अनित्य जीवनकी निराशामें निहित है; क्योंकि किसी भी साधनका जो फल हो सकता है, वह तो होता ही है; पर अनित्य जीवनकी निराशासे जो फल होता है, वह किसी अन्य साधनसे नहीं हो सकता। जैसे तपसे शक्ति और पुण्यसे उत्कृष्ट भोगोंकी प्राप्ति हो सकती है, पर न तो अमरत्व मिल सकता है, न परम प्रेम प्राप्त हो सकता है और न चिरशान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता ही मिल सकती है, जो अनित्य जीवनसे निराश होनेपर स्वतः प्राप्त होती है।

अब यदि कोई यह कहे कि अनित्य जीवनसे निराश होनेपर

हमारा भौतिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जायगा तो कहना होगा कि ऐसी बात नहीं है। अनित्य जीवनसे निराश होनेपर नित्य जीवनकी प्राप्ति तो हो ही जाती है, पर अनित्य जीवनमें भी सौन्दर्य आ जाता है। कारण कि नित्य जीवनका प्रकाश अनित्य जीवनको स्वतः सुन्दर बना देता है। अर्थात् उसमें दिव्य गुणोंका प्रादुर्भाव होने लगता है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनित्य जीवनसे निराश होनेके लिये हमें क्या करना चाहिये? इसका समाधान यही हो सकता है कि जब हम निज विवेकके द्वारा क्षणभंगुर शरीरसे निराश हो जाते हैं, तब समस्त अनित्य जीवनसे निराश होनेकी सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। कारण कि शरीरका अविश्वास शरीरसे अतीतके जीवनपर विश्वास करानेमें समर्थ है। अनित्य जीवनकी निराशा स्वार्थभावको खाकर विश्वप्रेम, देहाभिमानको खाकर अपनेमें ही संतुष्ट होनेकी सामर्थ्य तथा अहं और ममको मिटाकर प्रभु-प्रेम प्रदान करती है। इस दृष्टिसे अनित्य जीवनकी निराशामें ही जीवनकी पूर्णता निहित है।

अनित्य जीवनकी निराशाका अर्थ अनित्य जीवनसे घृणा करना नहीं है, अपितु त्यागे हुए मलकी भाँति उससे विमुख होना है। जिस प्रकार त्यागा हुआ मल खाद बनकर खाद्य पदार्थोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ है, उसी प्रकार अनित्य जीवनकी निराशा समस्त विश्वकी सेवा बनकर उसे हरा-भरा बनाने में समर्थ है और वह साधकको अमर भी कर देती है। अनित्य जीवनकी निराशा वर्तमानसे सम्बन्ध रखती है। उसके लिये भविष्यकी आशा करना भूल है। निज विवेकका आदर करनेपर अनित्य जीवनसे निराश होनेकी सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। अतः हमें अनित्य जीवनसे निराश होकर वर्तमानमें ही जीवनकी पूर्णता प्राप्त कर लेनी चाहिये।

कामना-निवृत्ति

जीवनका निरीक्षण करनेपर जीवनके दो भाग दिखायी देते हैं। एक तो वह जिसे हम कामना-पूर्तिके नामसे कहते हैं, जिसके लिये शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि तथा अनेकों बाह्य वस्तुओंकी अपेक्षा होती है और दूसरा वह जिसे हम जिज्ञासापूर्ति तथा प्रेमप्राप्तिके नामसे कहते हैं। उनकी पूर्तिके लिये बाह्य वस्तुओंकी तो कौन कहे शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदिकी भी अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि सभी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियोंसे विमुख होनेपर ही जिज्ञासाकी पूर्ति तथा प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है।

अब विचार यह करना है कि क्या हम कामना-पूर्तिके जीवनको चाहते हैं अथवा जिज्ञासापूर्ति एवं प्रेम-प्राप्तिके जीवनको अथवा दोनोंको चाहते हैं। इसका निर्णय करनेके लिये हमें दोनों प्रकारके जीवनके स्वरूपका अध्ययन करना होगा। कामनापूर्तिके जीवनमें प्रवृत्ति है, परंतु प्राप्ति कुछ नहीं। कारण कि अनेक बार कामनाओंकी पूर्ति होनेपर भी अभावका अभाव नहीं होता, अपितु जड़ता, परतन्त्रता एवं शक्तिहीनतामें ही आबद्ध होना पड़ता है, जो स्वभावसे ही प्रिय नहीं है। इतना ही नहीं, कामनापूर्तिका जीवन ही हमें जन्म और मृत्युकी ओर गतिशील करता है। कामनापूर्तिके जीवनमें श्रम है विश्राम नहीं, गति है स्थिरता नहीं, भोग है योग नहीं, अशान्ति है चिरशान्ति नहीं और जिज्ञासापूर्ति एवं प्रेम-प्राप्तिके जीवनमें नित्य योग है, चिरशान्ति है, अमरत्व है और अगाध अनन्त रस है, जो सभीको स्वभावसे ही प्रिय है।

अब यदि कोई कहे कि हम दोनों प्रकारका जीवन चाहते हैं तो कहना होगा कि यदि कामनापूर्ति भी कामना-निवृत्तिके लिये ही अपेक्षित है, कामनापूर्तिके सुख-भोगके लिये नहीं तो जीवनके दोनों भागोंका समावेश एक ही जीवनमें हो जाता है; परंतु यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कामनापूर्तिकी सुख-लोलुपताका त्याग कर दिया जाय और कामना-निवृत्तिके लिये ही कामनापूर्तिका उपयोग किया जाय।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या जिज्ञासापूर्ति तथा प्रेम-प्राप्तिका जीवन हम साधारण व्यक्तियोंको सुलभ है? इस समस्यापर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसकी लालसा किसी प्रकार मिटायी नहीं जा सकती, उसकी पूर्ति अनिवार्य है। कामनाओंकी निवृत्ति हो सकती है, पर निस्संदेहता तथा प्रेम-प्राप्तिकी लालसा मिटायी नहीं जा सकती अर्थात् निवृत्त नहीं हो सकती, अतः उसकी पूर्ति अनिवार्य है। इसलिये ऐसे जीवनसे हमें निराश नहीं होना चाहिये। अर्थात् हम सभीको प्रेमकी प्राप्ति तथा हमारी जिज्ञासाकी पूर्ति हो सकती है। कारण कि कामनाओंकी निवृत्तिमें जिज्ञासाकी पूर्ति और जिज्ञासाकी पूर्तिमें प्रेमकी प्राप्ति निहित है।

कामनाओंकी उत्पत्ति अविवेकसिद्ध है, इसलिये वह विवेकपूर्वक मिटायी जा सकती है। परतन्त्रता तो केवल कामनापूर्तिमें है, निवृत्तिमें नहीं, क्योंकि कामनापूर्तिके लिये परिस्थितिविशेषकी अपेक्षा होती है, जो सबके लिये सर्वदा सम्भव नहीं है। इसी कारण कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि हमारी सभी

कामनाकी पूर्ति नहीं होती। हाँ, यह अवश्य है कि कामनापूर्तिव सुख कामना-उत्पत्तिका हेतु बन जाता है। इस दृष्टिसे कामनापूर्ति भी कामना-उत्पत्तिके ही समान है। अतः कामनापूर्तिका प्रयास अन्तमें निरर्थक ही सिद्ध होता है।

अब विचार यह करना है कि कामनापूर्तिका जीवनमें क्या स्थान है ? तो कहना होगा कि जिस रागको साधक विचारसे न मिटा सके, उसकी वास्तविकताको जाननेके लिये उसे विधानके अनुरूप कामनापूर्तिमें प्रवृत्त होना चाहिये। इसके अतिरिक्त कामनापूर्तिका जीवनमें और कोई स्थान नहीं है। सारांश यह निकला कि कामनापूर्ति भी कामना-निवृत्तिके लिये ही अपेक्षित है। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिज्ञासापूर्ति एवं प्रेमकी प्राप्ति ही वास्तविक जीवन है।

जिज्ञासा-पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति वर्तमान जीवनकी वस्तु है। उससे निराश होना भूल है। यह विश्वास ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों जिज्ञासापूर्ति एवं प्रेमप्राप्तिकी सामर्थ्य स्वतः आने लगती है।

नित्य जीवनका अनित्य जीवनपर प्रभाव

वर्तमान दशाका अध्ययन करनेपर यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता कि अनित्य जीवनसे सम्बन्धविच्छेद होनेपर जिस दिव्य जीवनकी ाप्ति होती है क्या उसका प्रभाव अनित्य जीवनपर नहीं होता ?(

विचार करनेपर मालूम होता है कि अनित्य जीवनकी ओर तिशील होनेपर विवेक भावमें, भाव कर्ममें और कर्म परिस्थितिमें दल जाता है एवं नित्य जीवनकी ओर गतिशील होनेपर कर्म ावमें, भाव विवेकमें और विवेक नित्य जीवनमें विलीन हो जाता ।अनित्य जीवनसे सम्बन्धविच्छेद होनेपर नित्य जीवनसे अभिन्नता ा हो ही जाती है । साथ-साथ अनित्य जीवनमें भी दिव्य जीवनका भाव स्वतः होने लगता है । अर्थात् भाव और विवेक--ये दोनों ीवनमें मूर्तिमान् होकर प्रदर्शित होने लगते हैं । जिस प्रकार चित्र- ार अपने भावको चित्रद्वारा प्रकाशित करता है उसी प्रकार दिव्य ीवनकी दिव्यता बाह्य जीवनसे स्वतः प्रकाशित होने लगती है।

अनित्य जीवनमें आकृतिसे भावकी उत्पत्ति होती है और दिव्य ीवनमें भावसे आकृतिकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् आन्तरिक ीवन ही मूर्तिमान् हो जाता है । इतना ही नहीं ज्यों-ज्यों दिव्यता ीवन बनती जाती है त्यों-त्यों जड़ता चिन्मयतामें परिवर्तित होती ाती है। पर इस रहस्यको कोई विरले ही जानते हैं ।

अनित्य और नित्य जीवनके मध्यमें अहंभावरूपी अणु ही एक सा आवरण है जो दिव्य जीवनकी दिव्यताको इस भौतिक जीवनमें ावतरित नहीं होने देता । यदि विवेकपूर्वक आत्मसमर्पण द्वारा हंभावरूपी अणुका अन्त कर दिया जाय तो उस अनन्तकी कृपाशक्ति

उस चिन्मय जीवनमें प्रवेश हो जाता है, जो अनन्त है। अथवा यों कहो कि विवेकका प्रकाश बुद्धिको और बुद्धिका प्रकाश मनको दिव्य बनाता है। मनकी दिव्यता इन्द्रियोंको दिव्य बनाती है और इन्द्रियोंकी दिव्यता परिस्थितिमें सौन्दर्य उत्पन्न करती है, क्योंकि जहाँ कहीं जो सौन्दर्य है वह अनन्तकी ही अभिव्यक्ति है। अतः हमें दिव्य जीवनसे अभिन्न होकर ही बाह्य जीवनमें दिव्यताकी अभिव्यक्ति करनी चाहिये। यह तभी संभव है जब हम देहाभिमानके त्यागपूर्वक अन्तर्मुख होकर मूक सेवाको अपनायें। जिस प्रकार स्थिर भूमिमें ही अनेक पौधे उपजते हैं और अचल हिमालयसे ही अनेक नदियाँ निकलती हैं, जो भूमिको हरा-भरा बनानेमें समर्थ हैं, उसी प्रकार मूक सेवासे ही विश्वमें दिव्यताका प्रसार होता है। यद्यपि मूक सेवा इन्द्रियजन्य ज्ञानसे देखी नहीं जा सकती, परंतु विभु होकर सभीको सब कुछ प्रदान करती है अर्थात् उसीके द्वारा बाह्य सेवा भी सजीव तथा सार्थक होती है। पर इस रहस्यको तत्त्वदर्शी महापुरुष ही जानते हैं। इस दृष्टिसे मूक सेवा बाह्य सेवाकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वकी वस्तु है। पर वह सेवा उन्हीं साधकोंके द्वारा हो सकती है जो उत्तरोत्तर शान्तिकी ओर गतिशील होते जाते हैं। शान्तिकी ओर गतिशील होनेके लिये हमें अचाह, अप्रयत्न एवं अभिन्नताको ही अपनाना होगा। अचाहसे दोषोंकी निवृत्ति हो जायगी, अप्रयत्नसे 'अहम्' टूट जायगा और अभिन्नतासे दिव्य चिन्मय प्रेमकी प्राप्ति होगी, जो सब प्रकारके भेदका अन्त करनेमें समर्थ है। भेदका अन्त होते ही सब प्रकारके संघर्ष स्वतः मिट जाते हैं और उस अनन्त नित्यचिन्मय जीवनसे अभिन्नता हो जाती है, जिसकी कृपा शक्ति समस्त विश्वको दिव्य बनानेमें समर्थ है।

माने हुए सम्बन्धकी निवृत्ति और नित्य सम्बन्धकी प्राप्ति

जीवनके निरीक्षणमें यह स्पष्ट विदित होता है कि शरीर आदि जो वस्तुएँ प्राप्त हैं उनसे हमारी जातीय तथा स्वरूपकी एकता नहीं है। जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता नहीं है उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना अस्वाभाविकता है। जब वह अस्वाभाविकता स्वाभाविकताका स्थान पा जाती है तब अनेक अस्वाभाविक इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो देखनेमें स्वाभाविक-सी प्रतीत होती हैं पर स्वाभाविक लालसाकी पूर्तिमें सर्वदा असमर्थ ही रहती हैं। जैसे मृत्युके भयसे मुक्त होनेकी लालसा, सन्देहरहित होनेकी रुचि एवं अगाध अनन्त रस पानेकी माँगको अस्वाभाविक इच्छाएँ न तो मिटा ही पाती हैं और न पूरा ही कर पाती हैं।

अब विचार यह करना है कि अस्वाभाविक इच्छाओंका स्वरूप

विच्छेद कर लेना चाहिये। यद्यपि सम्बन्धविच्छेद कर लेनेपर भी सम्बन्धजनित जो कार्य उत्पन्न हो गया है वह कुछ काल तो रहेगा ही परन्तु वह अपने आप मिट जायगा, उसके लिये कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। यह नियम है कि कारणका नाश होनेपर भी उसका कार्य कुछ काल रहता ही है जो समय पाकर अपने आप मिट जाता है। जिस प्रकार हरे-भरे वृक्षका मूल काट देनेपर भी वह ऊपरसे कुछ काल हरा-भरा ही दिखायी देता है पर कुछ कालमें स्वयं ही सूख जाता है, उसी प्रकार माने हुए सम्बन्धका त्याग हो जानेपर भी कुछ काल तक शरीर आदिका व्यापार स्वतः ही होता रहता है पर उसके करनेका अभिमान नहीं होता और न किसी प्रकारका राग ही अङ्कित होता है। रागरहित होते ही नित्ययोग, अनुराग एवं बोधरूपी सूर्य उदय होता है जो स्वाभाविक लालसाकी पूर्तिमें समर्थ है। नित्ययोगसे चिरशान्ति, बोधसे अमरत्व और अनुरागसे अगाध अनन्त रसकी उपलब्धि होती है जो सभीको अभीष्ट है।

जिससे केवल मानी हुई एकता है जातीय नहीं उससे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें जो भय प्रतीत होता है उसका एकमात्र कारण यह है कि हमें विश्वास नहीं रहा है कि वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियोंसे अतीत भी जीवन है। यद्यपि निज विवेकका प्रकाश यह स्पष्ट कर देता है कि वस्तु, अवस्था आदिके परिवर्तन होनेपर भी उनका प्रकाशक ज्यों-का-त्यों है, परन्तु अवस्था आदिकी आसक्ति एवं तद्रूपता भय उत्पन्न कर देती है, जो वास्तवमें प्राप्त विवेकका अनादर ही है। साधकके जीवनमें विवेकके अनादरका कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि विवेकयुक्त जीवनका नाम ही साधनयुक्त जीवन है।

यह सभीको मान्य होगा कि प्राप्त परिस्थिति सतत बदलरही है और अप्राप्त परिस्थिति वर्तमानमें विद्यमान नहीं है। अतः किसी भी परिस्थितिसे नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है। जो सम्भव नहीं है, उसकी आशा करना, उसपर विश्वास करना भूल ही है और कुछ नहीं। इसे वर्तमानमें ही मिटा देना है। तभी हम प्राप्त परिस्थितिकी आसक्तिसे और अप्राप्त परिस्थितिके चिन्तनसे रहित हो सकते हैं।

हमारा नित्य-योग उसीसे हो सकता है जो सर्वत्र और सर्वकालमें हो और जिसमें किसी प्रकारका अभाव न हो। अपितु जो सभी अभावोंका अभाव करनेमें समर्थ हो। जो सर्वकालमें है वह वर्तमानमें भी है। अतः नित्ययोगकी प्राप्ति वर्तमान जीवनकी वस्तु है उसे भविष्यकी आशापर छोड़ना असावधानी है और कुछ नहीं। परिस्थितियोंके वियोगमें ही नित्ययोगकी सामर्थ्य निहित है और परिस्थितियोंके सदुपयोगमें ही परिस्थितियोंसे असंग होनेकी योग्यता विद्यमान है।

शरीरकी वास्तविकताको जान लेनेमें समस्त विश्वका ज्ञान निहित है, क्योंकि शरीर और विश्वमें जातीय एकता है। शरीरके आदि, मध्य और अन्तका ज्ञान हमें शरीरसे अरुचि तथा असंगता प्रदान करनेमें समर्थ है। इतना ही नहीं शरीरका राग मिटते ही सभी भोगोंका राग स्वतः मिट जाता है और भोगोंका राग मिटते ही नित्ययोग अपने आप हो जाता है। शरीरके रागके कारण ही हम उन वस्तुओंके पीछे दौड़ते हैं जो हमारे बिना रह सकती हैं अथवा जिनके बिना हम रह सकते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि शरीर आदि प्राप्त वस्तुओंके सदुपयोगमें कर्तव्य बुद्धिसे हमारा कुछ अधिकार है पर

उन्हें अपना माननेका लेशमात्र भी अधिकार नहीं है, क्योंकि शरीर आदि सभी वस्तुएँ उसी अनन्तकी हैं जिसके किसी एक अंशमें समस्त विश्व विद्यमान है।

शरीरकी ममतासे रहित होकर शरीरकी सेवा करनेमें शरीरका हित और अपना कल्याण है। शरीरकी सेवा करते हुए इस बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये कि कहीं स्थूल शरीरके हितके लिये सूक्ष्म-शरीरको दोषयुक्त न बना लिया जाय; अर्थात् स्थूल शरीरको पुष्ट करनेके लिये सूक्ष्म शरीरको हिंसक न बनाया जाय, तथा स्थूल शरीरको आराम देनेके लिये सूक्ष्म शरीरको बेईमान तथा संग्रही न बना दिया जाय, क्योंकि स्थूल शरीरकी सेवाकी अपेक्षा सूक्ष्म शरीरकी सेवा अधिक महत्त्वकी वस्तु है। कारण कि स्थूल शरीरका सम्बन्ध तो वर्तमान जीवनतक ही है परन्तु सूक्ष्म शरीर तो प्राणान्तके बाद भी साथ रहता है। इतना ही नहीं सूक्ष्म शरीरके अनुरूप ही दूसरा जन्म होता है। जन्म और मृत्यु एक ही जीवनके दो पहलू हैं, कारण कि उत्पत्तिमें ही विनाश और विनाशमें ही उत्पत्ति निहित है। जबतक कारण शरीरका अन्त न हो जाय तबतक जन्म और मृत्युका प्रवाह सतत चलता ही रहता है। कारण शरीरका अन्त करनेके लिये सूक्ष्म शरीरको शुद्ध रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि राग-द्वेषरहित होनेपर ही त्याग और प्रेम प्राप्त होता है। त्यागसे अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति और प्रेमसे स्वाभाविक लालसाकी पूर्ति स्वतः हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है।

———

सहज निवृत्तिका सदुपयोग

वर्तमान दशाका अध्ययन करनेपर हमें किसी-न-किसी प्रकारकी चाह, प्रतीति, प्रवृत्ति और आसक्तिका ही दर्शन होता है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें सहज निवृत्ति भी स्वभावसे ही आती है तथापि प्रवृत्तिजन्य सुखका भोग निवृत्ति-कालमें भी किसी-न-किसी प्रकारकी चाह और आसक्तिमें ही आबद्ध रखता है। चाह और आसक्तिके रहते हुए हम सदैव प्रतीतिकी ओर ही गतिशील रहते हैं। जिस प्रकार सूर्यसे विमुख होकर छायाकी ओर दौड़नेपर कोई भी अपनी छायाको पकड़ नहीं पाता अर्थात् प्राप्त नहीं कर पाता, उसी प्रकार प्रतीतिकी ओर प्रवृत्ति होनेपर प्रवृत्तिके अन्तमें कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाता। प्रवृत्तिका अन्त किसी-न-किसी प्रकारके अभावको ही सिद्ध करता है।

जब प्रवृत्तियोंके परिणामस्वरूप अभावकी वेदना सबल तथा स्थायी हो जाती है तब प्रवृत्तिके अन्तमें आनेवाली सहज निवृत्ति कालमें किसीकी मधुर स्मृति उत्पन्न होती है, चाहे उसका स्वरूप जिज्ञासा हो अथवा प्रियकी लालसा। स्मृति उसीकी होती है जिसकी जिज्ञासा हो और जिज्ञासा उसीकी होती है जिसकी स्मृति हो। कारण कि जिसको जानना चाहते हैं उसको प्राप्त भी करना चाहते हैं और जिसको प्राप्त करना चाहते हैं उसको जानना भी चाहते हैं। मधुर स्मृति और जिज्ञासा उसीकी हो सकती है जो सर्वदा

सर्वत्र विद्यमान हो अर्थात् जिससे देशकालकी दूरी न हो और जो उत्पत्ति-विनाश आदि दोषोंसे रहित हो। जिसकी स्मृति होती है उसीसे प्रीति होती है और जिससे प्रीति होती है उसीकी प्राप्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है।

प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें आनेवाली सहज निवृत्तिका सदुपयोग स्मृति, प्रीति और प्राप्ति करानेमें समर्थ है और उसका दुरुपयोग चाह, आसक्ति तथा अभावमें आबद्ध करता है, जो किसीको अभीष्ट नहीं है। अतः स्वभावसे आनेवाली सहज निवृत्ति बड़े ही महत्त्वकी वस्तु है। उसका सदुपयोग करनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। वह तभी सम्भव होगा जब प्रवृत्तिकी रुचि मधुर स्मृतिके स्वरूपमें बदल जाय। कारण कि मधुर स्मृति प्रवृत्तिकी चाह और आसक्तिको खाकर प्रीति जाग्रत् करनेमें समर्थ है। मधुर स्मृति कर्म तथा अभ्यास नहीं है अपितु श्रमरहित तथा स्वाभाविक है। इसी कारण अखण्ड और अनन्त भी है एवं सबके लिये साध्य भी है। अतः स्मृतिसे निराश होना भूल है।

प्रवृत्तिका राग तथा उसकी आसक्ति और चाह, स्मृतिको ढक भले ही ले पर उसे मिटा नहीं सकती, क्योंकि उसका नित्य सम्बन्ध अनन्तसे है—किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थितिसे नहीं। अनन्तकी स्मृति भी अनन्तके समान ही दिव्य, चिन्मय तथा नित्य है; क्योंकि स्मृतिमें सत्ता उसीकी होती है जिसकी वह है। जिस कालमें स्मृति प्रियसे भिन्नकी विस्मृति करा देती है उसी कालमें प्रियसे अभिन्न हो जाती है अथवा यों कहो कि स्मृति अनन्तकी प्रीति होकर अनन्तहीमें निवास करती है। इस दृष्टिसे प्रियकी स्मृति ही जीवन

और विस्मृति ही मृत्यु है। ज्यों-ज्यों प्रवृत्तिका राग मिटता जाता है त्यों-त्यों स्मृति स्वतः सबल तथा स्थायी होती जाती है और रागका अन्त होते ही वह अनुरागको उद्दीप्त कर उस अगाध अनन्त रसको प्रदान करती है, जो जीवन है। इतना ही नहीं, वह जन्म-मृत्यु, संयोग-वियोग, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंको विध्वंस करनेमें भी समर्थ है। अतः प्रियतमकी स्मृतिको जाग्रत् करनेके लिये हमें वर्तमानमें ही अथक प्रयत्न करना चाहिये।

वर्तमानका सदुपयोग

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान कर्तव्यपालन ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है; क्योंकि वर्तमानका सदुपयोग ही भविष्यको उज्ज्वल बनाता है और कार्यसे असंग होनेकी सामर्थ्य भी प्रदान करता है। सिद्धान्त रूपसे प्रत्येक कर्त्तव्य कर्मके दो परिणाम होते हैं। एक तो कर्ताके विद्यमान रागकी निवृत्ति और दूसरा उस कार्यसे जिनका सम्बन्ध है उनके अधिकारकी रक्षा। कर्त्ताका राग निवृत्त होते ही कर्त्ता जिज्ञासु तथा प्रेमी होनेमें समर्थ होता है और जिनके अधिकारकी रक्षा होती है उनका भी हित होता है। अथवा यों कहो कि इससे बाह्य परिस्थिति भी सुन्दर हो जाती है। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान कर्तव्य ही उत्कृष्ट कार्य है। अतः बड़ी ही सावधानीपूर्वक उसका सदुपयोग करना चाहिये।

वर्तमानका सदुपयोग तभी सम्भव होगा जब कर्ता प्राप्त कार्यको सर्वोत्कृष्ट कार्य माने, विधानके अनुरूप कार्यका सम्पादन करे और अपनेको उस कार्यमें पूरा लगा दे। पर इस बातका सदैव ध्यान रहे कि उपर्युक्त नियम उन्हीं कार्योंके लिये है जो करनेके योग्य हैं। जिन कार्योंसे दूसरोंका अहित हो वे किसी भी अवस्थामें करने योग्य नहीं हैं। जो करने योग्य नहीं हैं उन कार्योंका तो त्याग ही करना होगा। यह नियम है कि अकरणीय कार्यके त्यागमें ही

करणीय कार्यको करनेकी सामर्थ्य निहित है। अतः जो करना चाहिये उसके करनेमें लेशमात्र भी परतन्त्रता नहीं है।

जो करना चाहिये उसके करनेपर व्यर्थ चेष्टाओंका अन्त हो जायगा और कार्यके अन्तमें निर्विकल्पता स्वतः आने लगेगी। निर्विकल्पता कल्पतरुके समान है। यह जिज्ञासुमें जिज्ञासा और प्रेमीमें प्रियलालसा जाग्रत् करनेमें समर्थ है। इतना ही नहीं चिर-शान्ति तथा नित्य योग भी निर्विकल्पतासे ही प्राप्त होता है। जिज्ञासाकी पूर्णता उस तत्त्वज्ञानमें और प्रियलालसा उस प्रेममें बदल जाती है, जो वास्तवमें जीवन है। व्यर्थ चेष्टाओंसे ही व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न होता है और व्यर्थ चिन्तनसे ही परिस्थितिका दुरुपयोग होता है तथा निर्विकल्पता भंग होती है। निर्विकल्पता भंग होनेसे विकास रुक जाता है और परिस्थितिके दुरुपयोगके कारण कर्त्ताके उत्तरोत्तर रागकी वृद्धि होती जाती है। इस दृष्टिसे साधकके जीवनमें व्यर्थ चिन्तन तथा व्यर्थ चेष्टाओंके लिये कोई स्थान ही नहीं है।

परिस्थितियोंके चिन्तनसे रहित होनेपर प्रियकी स्मृति तथा विचारका उदय स्वतः हो जाता है। प्रियकी स्मृति प्रियसे भिन्नकी विस्मृति करानेमें समर्थ है और विचारका उदय अविचारको नष्ट करता है। अविचारके नष्ट होते ही अविचारसिद्ध सृष्टि स्वतः विलीन हो जाती है। प्रियसे भिन्नकी विस्मृति प्रियसे अभिन्न करनेमें समर्थ है और प्रियकी अभिन्नता दिव्य चिन्मय प्रेम प्रदान करनेमें समर्थ है। कारण कि प्रेम प्रेमास्पदका स्वभाव और प्रेमीका जीवन है।

कर्म-विज्ञानकी दृष्टिसे कर्ममें भिन्नता अनिवार्य है पर प्रत्येक [illegible] प्रियता समान होनी चाहिये। ऐसा करनेसे प्रत्येक कर्म

एक ही भावमें विलीन हो जायगा और कर्मजन्य आसक्ति उत्पन्न न होगी, कारण कि आसक्तिका हेतु रस है जिसकी पूर्ति प्रियतासे स्वतः हो जाती है। कार्यमें प्रधानता विधानके अनुरूप कार्यकुशलताकी होती है और प्रियता कर्तामें विद्यमान रहती है। समान प्रियता कर्ताको कर्मसे असंग करनेमें समर्थ है, क्योंकि प्रियताका भेद ही कर्ताको कर्ममें आबद्ध करता है। अतः प्रियताके भेदका अन्त करना अनिवार्य है। कर्मका भेद प्राकृतिक है और प्रियताका भेद कर्ताका अपना बनाया हुआ दोष है, जिसे मिटानेका दायित्व कर्तापर ही है। कर्ताके सभी दोष उस समय स्वतः मिट जाते हैं जब वह जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जाता है।

प्रेमी तथा जिज्ञासु होनेके लिये प्रत्येक कार्यको सुन्दरतापूर्वक करना चाहिये, क्योंकि कार्यकी सुन्दरता कर्ताको स्वयं कार्यके चिन्तनसे मुक्त कर देती है। कार्यके चिन्तनसे मुक्त होते ही प्रिय लालसा अथवा तत्त्वजिज्ञासा स्वतः जाग्रत् होती है जो प्रेमी तथा जिज्ञासु बनानेमें समर्थ है। इस दृष्टिसे सुन्दरतापूर्वक कार्य करना ही कार्यके चिन्तनसे मुक्त होनेका सुगम उपाय है।

अब विचार यह करना है कि कार्यके चिन्तनका हेतु क्या है। तो कहना होगा कि परिस्थितिके अनुसार किये हुए कार्यका राग ही कार्यके चिन्तनका हेतु है। किये हुए कार्यका राग तभी अङ्कित होता है जब कर्ता कार्यमें ही जीवनबुद्धि कर लेता है अथवा किये हुए कार्यका फल भोगना चाहता है। अर्थात् सुख भोगकी आसक्ति ही कर्ताको परिस्थितियोंमें आबद्ध करती है। परिस्थितियोंमें आबद्ध-प्राणी अपनेको कर्ता मान लेता है, जिज्ञासु तथा प्रेमी नहीं। कर्ता,

कर्म और फल—यद्यपि इन तीनोंमें जातीय एकता है, परन्तु क
फलकी आशाके कारण कर्मजालमें आबद्ध होकर अपनेको भोग
अधीन कर लेता है अर्थात् दीन हो जाता है। यह नियम है कि
दीनत्वके रहते हुए प्राणी कभी अभिमानसे रहित नहीं हो पाता
कारण कि दीनता किसी-न-किसी वस्तु, अवस्था आदिमें आबद्ध क
देती है, जो अभिमानका हेतु है। दीनता और अभिमानका अन्त
करनेके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि कर्ता सुखभोगकी
आशाको त्याग करके प्रत्येक कार्य रागनिवृत्तिके भावसे अथवा
अपने प्रियकी प्रसन्नताके भावसे सम्पादित करनेका स्वभाव बना
ले। यह नियम है कि जिस भावसे कार्य किया जाता है, कर्ता
अन्तमें उसी भावमें विलीन होता है अर्थात् या तो वीतराग हो
जाता है अथवा प्रेमी। वीतराग होते ही निरभिमानता आ जाती
है और किसी प्रकारका दीनत्व शेष नहीं रहता। दीनता और अभि-
मानके गलते ही समस्त जीवन प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है अथवा
यों कहो कि प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पदसे भिन्नकी सत्ता ही शेष नहीं
रहती। जिस प्रकार कर्ता, कर्म और फलमें जातीय एकता है उसी

और प्रवृत्तिके अन्तमें प्रेमी प्रीति होकर प्रीतमसे अभिन्न हो जाता है। अर्थात् समस्त जीवन प्रीतिकी ही अभिव्यक्ति हो जाता है। यह सभीको मान्य होगा कि प्रीतम प्रीतिमें ही विद्यमान है और प्रीतिसे ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः प्रीतिकी प्राप्तिके लिये हमें प्रत्येक कार्य सुन्दरतापूर्वक करना चाहिये।

आसक्ति और प्रीति

जीवनका निरीक्षण करनेपर यह सभीको मान्य होगा कि आसक्ति और प्रीतिमें केवल इतना भेद है कि आसक्ति 'पर' से और प्रीति 'स्व' से होती है। अथवा यों कहो कि प्रीति उसीसे होती है जो नित्य प्राप्त है और आसक्ति उसीसे होती है जिसका सतत वियोग है। नित्य प्राप्तसे दूरी और जिसका सतत वियोग है उसकी समीपताका दर्शन करानेमें एकमात्र आसक्ति ही हेतु है। इतना ही नहीं, प्राप्तका अभाव और अप्राप्तका भाव यह विपरीत ज्ञान भी आसक्तिहीसे होता है। अब यदि कोई यह कहे कि आसक्तिका आरंभ कबसे हुआ तो कहना होगा कि उसका निश्चित कालका तो पता नहीं पर आसक्ति मिटायी जा सकती है। इस आधार पर ही यह कह सकते हैं कि आसक्ति हो गयी है। नित्य नहीं है। सब प्रकारकी आसक्तियोंका अन्त वर्तमानमें हो सकता है। आसक्तियोंका अन्त होते ही नित्य प्राप्तसे नित्य योग तथा प्रीति स्वतः हो जायगी और फिर किसी प्रकारका बन्धन शेष नहीं रहेगा अर्थात् नित्य योगमें ही नित्य जीवनकी प्राप्ति और मृत्युकी मृत्यु है।

अब विचार यह करना है कि आसक्तियोंका अन्त कैसे हो? वह तभी होगा जब हम उन सबकी सेवा करें जिनका वियोग हो रहा है। वियोग उन्हींका हो रहा है जिनसे संयोग है। संयोग-कालमें ही वियोगका अनुभव करनेसे भी आसक्तियोंका अन्त हो

सकता है। संयोग-कालमें वियोगका अनुभव करनेके लिये हमें अपनेमेंसे उन सभीको पृथक् करना होगा जिनको 'यह' के नामसे कहते हैं। 'यह' और 'मैं' का विभाजन होनेपर निर्वासना आ जाती है जिसके आते ही सभी आसक्तियोंकी जड़ स्वतः कट जाती है। 'यह' और 'मैं' का विभाजन होनेपर 'मैं' 'है' की प्रीति अथवा 'है' का योग बन जाता है। कारण कि बिना किसी आश्रयके 'मैं' का अस्तित्व स्वतन्त्र रूपसे नहीं रह सकता। अब यदि कोई यह कहे कि जिसको 'है' कहते हैं उसको ही 'मैं' क्यों न कहा जाय ? तो कहना होगा कि 'मैं' अनेक मान्यताओंके रूपमें स्वीकार किया गया है और 'मैं' का अर्थ सीमित रूपमें अनेक बार किया गया है, इस कारण 'है' को 'मैं' कहनेमें प्रमाद हो सकता है। हाँ, यह और बात है कि यदि किसीको 'मैं' के प्रति इतनी ममता हो जाय कि उसको किसी-न-किसी रूपसे जीवित ही रखना है तो भले ही 'है' को 'मैं' के नामसे कह दिया जाय। वास्तवमें तो 'मैं' 'है' की प्रीति है और कुछ नहीं। यद्यपि प्रीतिमें सत्ता उसीकी होती है जिसकी वह है। इस दृष्टिसे 'मैं' 'है' की ही अभिव्यक्ति है।

नित्य प्राप्तकी प्राप्तिमें ही जीवन है और उसकी विमुखतामें ही मृत्यु है। नित्य प्राप्तसे विमुखता ही दृश्यसे संयोग कराती है। संयोगका ही वियोग होता है, प्राप्तका नहीं। इतना ही नहीं, प्रतीति भी संयोगकी ही होती है, प्राप्तकी नहीं। प्राप्तसे तो अभिन्नता हो सकती है, उसकी प्रतीति नहीं। पर इस रहस्यको वे ही जान सकते हैं जिन्होंने जीवनका अध्ययन किया है; क्योंकि जीवनके अध्ययनमें ही जानदारी विद्यमान है।

शरीर आदि प्राप्त वस्तुओंकी ममताका त्याग और अप्राप्त परिस्थितियोंके चिन्तनका त्याग वर्तमान जीवनकी वस्तु है; क्योंकि प्राप्तकी ममताका और अप्राप्तके चिन्तनका त्याग विवेकसिद्ध है अभ्याससाध्य नहीं। जो विवेकसिद्ध है, उसकी प्राप्ति वर्तमानमें हो सकती है। अतः सभी आसक्तियोंका त्याग वर्तमान जीवनकी वस्तु है, जो वर्तमानमें ही सम्भव है, उसके लिये भविष्यकी आशा करना असावधानी है। यद्यपि असावधानीका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है, परंतु प्राप्त वस्तुओंकी ममता और अप्राप्त वस्तुओंके चिन्तनने ही असावधानीको जन्म दिया है। ममता करने मात्रसे ही कोई वस्तु सुरक्षित नहीं रह सकती और चिन्तन मात्रसे ही कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती तो फिर ममता और चिन्तनका जीवनमें अर्थ ही क्या है। हाँ, प्राप्त वस्तुओंके सदुपयोगका और प्राप्त व्यक्तियोंकी सेवाका तो जीवनमें स्थान है; क्योंकि प्राप्त व्यक्तियोंकी सेवासे मोहका और प्राप्त वस्तुओंके सदुपयोगसे लोभका अन्त हो जाता है। यह नियम है कि निर्लोभता तथा निर्मोहता आ जानेपर सभी आसक्तियाँ स्वतः मिट जाती हैं। आसक्तियोंके मिटते ही सभी बन्धन अपने-आप टूट जाते हैं और प्राप्तमें नित-नव प्रीति जाग्रत

असफलता; परंतु जो कर सकते हैं उसके न करनेसे, जो जानते हैं, उसके न माननेसे, और जो नहीं कर सकते उसके करनेका प्रयास करनेसे ही साधकके जीवनमें असफलता, असमर्थता एवं परतन्त्रता आ जाती है। समस्त सामर्थ्य शान्तिमें निहित है, संग्रहमें नहीं। शान्ति त्यागमें निहित है रागमें नहीं। यह सभीको मान्य होगा कि त्यागमें स्वाधीनता और संग्रहमें पराधीनता है। पराधीनताका अन्त करनेके लिये हमें संग्रहरहित जीवनका अनुभव करना होगा जिसके करनेमें साधक सर्वदा स्वाधीन है। संग्रहरहित जीवनमें ही प्रीतिका प्रादुर्भाव होता है। प्रीतिमें ही नित-नव-रस विद्यमान है। यह सभी विचारशीलोंको मान्य होगा कि रसके अभावमें ही विकारोंका जन्म होता है। और प्रीतिके अभावसे ही रसका अभाव होता है। अतः निर्विकार होनेके लिये प्रीति-युक्त जीवन अनिवार्य है। प्रीति नित्य प्राप्तसे ही सम्भव है किसी अन्यसे नहीं; क्योंकि नित्य प्राप्तसे ही नित्य योग हो सकता है, उससे नहीं जिससे संयोग स्वीकार कर लिया है। अतः जिससे संयोग है उसकी सेवा करना है और जो नित्य प्राप्त है उससे प्रेम करना है। जिसकी सेवा करना है उससे ममतारहित होना है और जिससे प्रेम करना है उससे अभिन्न होना है। और यही वास्तवमें साधनतत्त्व है। यह नियम है कि साधक साधनतत्त्वसे अभिन्न होकर ही साध्यको पाता है।

(१९)

व्याकुलता और प्रेम

वर्तमान दशाका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि भोगोंकी ओर गतिशील होनेपर क्षणिक सुखका भास अथवा निराशाका ही दर्शन होता है और भोगोंसे अतीतकी ओर गतिशील होनेपर व्याकुलता, जीवन तथा प्रेमकी उपलब्धि होती है। व्याकुलता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों त्यों सभी दोष निर्दोषतामें और सभी अभिमान निरभिमानतामें तथा भेद और दूरी अभिन्नता एवं अत्यन्त निकटतामें स्वतः बदलती जाती है। अथवा यों कहो कि आवश्यक शक्तिका विकास अपने आप होने लगता है। इस दृष्टिसे व्याकुलता बड़े ही महत्त्वकी वस्तु है। व्याकुलताकी जागृति और उसकी उत्तरोत्तर वृद्धिके लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि हम अपने लक्ष्यको वर्तमान जीवनकी ही वस्तु मानें और उससे कभी भी निराश न हों। अपितु उसके लिये नित-नव आशाका संचार होता रहे।

यह नियम है कि लक्ष्य वही हो सकता है जिससे जातीय एकता, आत्मीयता एवं नित्य सम्बन्ध हो। तभी हमारा लक्ष्य हमारे वर्तमान जीवनकी वस्तु बन सकता है और उसीके लिये नित-नव आशाका संचार तथा व्याकुलता जाग्रत् हो सकती है। अतः लक्ष्यसे निराश होनेके लिये जीवनमें कोई स्थान नहीं है।

लक्ष्यका निर्णय व्याकुलताकी जागृतिमें हेतु है और व्याकुलताकी

जागृति निर्दोष बनाकर जीवनप्रदान करनेमें समर्थ है। तथा निर्दोप जीवनमें ही प्रेम निहित है। कारण कि नित्य जीवन तथा प्रेमका विभाजन नहीं हो सकता और अनित्य जीवनमें प्रेमकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि लक्ष्यका निर्णय कैसे हो। यह सभीको मान्य होगा कि भोगका आरम्भकाल भले ही सुखद प्रतीत हो पर अन्तमें तो भयंकर दुःख ही प्राप्त होता है। इस अनुभूतिका आदर ज्यों-ज्यों स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों लक्ष्यके निर्णयकी सामर्थ्य साधकमें स्वतः आने लगती है और लक्ष्यका निर्णय होते ही साधनका निर्माण होने लगता है अथवा यों कहो कि साधकका समस्त जीवन अपने आप साधन बन जाता है। भोगके आरम्भकालके सुखका भास और परिणामका भयंकर दुःख; भोगकी वास्तविकताका ज्ञान तथा भोगसे निराश करनेमें हेतु है, भोगको जीवन बनानेमें नहीं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भोगसे योगकी ओर गतिशील होनेके लिये ही साधन-निर्माणकी अपेक्षा है। विभिन्न साधकोंके साध्यमें एकता हो सकती है, साधनमें नहीं; कारण कि साधनका जन्म साधकोंमेंसे होता है, साध्यमेंसे नहीं। यह सभीको मान्य होगा कि सर्वांशमें दो साधक भी समान योग्यताके नहीं होते। इस कारण साधनका भेद स्वाभाविक है पर साध्यका नहीं।

साधन निर्माण करनेके लिये हमें यह भलीभाँति जानना होगा कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिये उसके न करनेसे जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है। अब विचार यह करना है कि

क्या नहीं करना चाहिये, तो कहना होगा कि राग-द्वेष तथा स्वार्थ-भावका साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि ये तीनों अविवेकसिद्ध हैं। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिये उसे न करना सभीके लिये सहज, सुगम और अनायास है। यही नहीं उसके लिये किसी अन्यकी अपेक्षा भी नहीं होती। अतः जो नहीं करना चाहिये उसके न करनेमें सभी स्वाधीन हैं। इस दृष्टिसे सभी साधक राग, द्वेष तथा स्वार्थभावसे रहित हो सकते हैं।

स्वार्थभावका अन्त होते ही सर्वहितकारी भावनाएँ स्वतः उत्पन्न होती हैं, जो वास्तविक सेवा है। सेवा स्वार्थको खाकर सेवकके हृदयको करुणासे भर देती है।

जो हृदय करुणारससे भर जाता है उससे राग-द्वेष स्वतः मिट जाते हैं। रात-द्वेषके मिटते ही त्याग और प्रेम अपने आप आ जाते हैं। त्यागसे चिरशान्ति तथा नित्य जीवनकी उपलब्धि होती है और प्रेम अगाध अनन्त रस प्रदान करनेमें समर्थ है। प्रेम एक ऐसा अलौकिक, दिव्य, चिन्मय तत्त्व है कि जो कभी घटता नहीं, मिटता नहीं और न कभी उसकी पूर्ति ही होती है, अपितु नित्यनूतन ही रहता है। इसी कारण उसकी आवश्यकता सर्वदा समस्त विश्वको रहती है। इतना ही नहीं, समस्त विश्व जिसके किसी एक अंशमें है उस अनन्तसे भी अभिन्न करनेमें प्रेम ही समर्थ है; क्योंकि प्रेम किसी प्रकारकी दूरी तथा भेद रहने नहीं देता। इस दृष्टिसे केवल प्रेम ही प्राप्त करने योग्य तत्त्व है।

——

(२०)

विवेक और प्रीति

जीवनका अध्ययन करनेपर यह विदित होता है कि जो स्वतः हमसे दूर हो रहा है उसपरसे हमें अपना स्वत्व हटा लेना चाहिये। ऐसा करते ही लोभ, मोह, जड़ता आदि सभी विकार मिट जाते हैं और निर्विकारता एवं प्रीति उदय होती है, जो अपनेमें ही अपने प्रीतमसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। जानेवाली वस्तु, अवस्था एवं व्यक्तियोंकी ममता ही हमें लोभ, मोह, जड़ता आदि विकारोंमें आबद्ध करती है। अब विचार यह करना है कि ममतासे क्या प्राप्त वस्तुएँ सुरक्षित रह सकती हैं अथवा अप्राप्त वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं? कदापि नहीं। इस दृष्टिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ममताका जीवनमें कोई स्थान नहीं है और ममताके त्यागसे कोई क्षति भी नहीं है। वस्तुओंके सदुपयोगका और व्यक्तियोंकी सेवाका जीवनमें स्थान है, पर उनको अपना माननेका नहीं।

यह नियम है कि जिन्हें हम अपना मान लेते हैं उनका राग अङ्कित हो जाता है। जिसका राग अङ्कित हो जाता है उसकी स्मृति स्वतः होने लगती है और वह स्मृति व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न करती है, जो सार्थक चिन्तनमें विघ्न है। सार्थक चिन्तनके बिना प्रीति जाग्रत् नहीं होती और प्रीतिके बिना नित्य प्राप्त प्रीतमसे अभिन्नता नहीं होती। अतः प्रीतिकी जागृतिके लिये निरर्थक चिन्तन-

का त्याग अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब हम अपनी ममता सब ओरसे हटाकर अपने नित्य प्राप्त प्रीतममें कर लें।

हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिनसे निराश नहीं होना चाहिये उनसे निराश होते हैं और जिनकी आशा नहीं करनी चाहिये उनकी आशा करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि जो प्रीति करने योग्य है उससे प्रीति नहीं हो पाती और जो चिन्तन करने योग्य नहीं है उसका चिन्तन करने लगते हैं।

यद्यपि प्रीति बीजरूपसे सभीमें विद्यमान है, परन्तु जब हम उसे वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदिमें आबद्ध कर देते हैं तब वह आसक्ति तथा लोभ, मोह, जड़ता आदि विकारोंमें बदल जाती है। जैसे नदीका निर्मल जल किसी गड्ढेमें आबद्ध होनेसे विकृत होकर अनेक विषैले कीटाणु उत्पन्न करता है। अतः प्रीति-जैसे निर्मल चिन्मय तत्त्वको किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें आबद्ध नहीं करना चाहिये। प्रीति तो प्रीतमका स्वभाव है। उसे सब ओरसे हटाकर अपने प्रीतमकी ओर ही स्वतः प्रवाहित होने देना चाहिये। अनन्तकी प्रीति भी अनन्त है। उसका कभी अन्त नहीं होता। इसी कारण वह नितनूतन रस प्रदान करनेमें समर्थ है। हम वस्तु आदिकी प्राप्तिमें भले ही असमर्थ हों परन्तु प्रीतिकी प्राप्तिमें असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं हैं क्योंकि प्रीतिसे हमारी जातीय एकता है। प्रीतिका कभी नाश नहीं होता, अपितु स्थान-भेदसे रूपान्तर-सा प्रतीत होता है।

यदि प्रीति समस्त दृश्यकी ओर प्रवाहित हो तो उसका नाम विश्वप्रेम हो जाता है, यदि 'स्व' की ओर प्रवाहित हो तो उसे

आत्मरति कहते हैं और वही यदि अनन्तकी ओर प्रवाहित हो तो उसीका नाम प्रभुप्रेम हो जाता है। सभीके प्रति होनेवाली प्रीति अथवा देहसे अतीत अपने प्रति होनेवाली प्रीति साधना है और अनन्तके प्रति होनेवाली प्रीति साध्य है। इस दृष्टिसे प्रीति साधन भी है और साध्य भी। नित्य भी है और अनन्त भी।

यह सबको मान्य होगा कि प्रीति सभीमें विद्यमान है। पर जो उसका सदुपयोग करते हैं वे दिव्य तथा चिन्मय जीवनकी ओर गतिशील होते हैं और जो दुरुपयोग करते हैं वे जड़ता आदि विकारोंमें आबद्ध हो जाते हैं। प्रीतिका सदुपयोग वही कर सकते हैं जो सब प्रकारकी चाहसे रहित हैं। चाहसे युक्त प्राणी तो प्रीतिका दुरुपयोग करता है। प्रीतिके दुरुपयोगमें अपना विनाश है और प्रीतिके सदुपयोगमें जीवन है।

किसी मान्यताविशेषमें आबद्ध प्रीति ही सीमित होकर संघर्ष उत्पन्न करती है जो विनाशका मूल है। सभी मान्यताओंसे अतीत सत्तामें होनेवाली प्रीति विभु होकर शान्ति तथा अभिन्नता प्रदान करती है। प्रीतिका दुरुपयोग अविवेकसिद्ध है और सदुपयोग विवेकके प्रकाशमें निहित है, कारण कि विवेक सभी मान्यताओंसे अतीत अनन्त तत्त्वसे नित्य योग करानेमें समर्थ है। नित्य योगमें ही प्रीतिकी प्राप्ति है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि विवेकयुक्त जीवनमें ही प्रीतिका प्रादुर्भाव होता है। प्रीति जिसका जीवन है उसकी दृष्टिमें सृष्टि नहीं रहती, कारण कि प्रीति प्रीतमसे अभिन्न कर देती है जो वास्तविक जीवन है।

(२१)

साधन-निर्माण

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधनमें असफलताका कारण एकमात्र अपनी रुचि और योग्यताके अनुरूप साधनका निर्माण न करना है। यद्यपि साधन दृष्टिसे सभी सिद्धान्त आदरणीय तथा माननीय हैं और सभीसे सफलता हो सकती है पर अपनी सिद्धि उसी साधनसे होगी जिसका निर्माण अपने निरीक्षण द्वाराकिया गया हो। इतना ही नहीं साधन वही अनुसरणीय है जिसके प्रति निस्सन्देहता तथा विश्वास हो और जो स्वभावसे ही रुचिकर हो। ये तीनों बातें जिस साधनके प्रति होती हैं वह साधन साधकका जीवन हो जाता है। यह नियम है कि जो साधन जीवन बन जाता है उससे सिद्धि अवश्य होती है। जिस प्रकार नेत्रसे देखनेकी क्रियाका विभाजन नहीं हो सकता उसी प्रकार साधकके जीवनसे साधनका विभाजन नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे साधन और साधकमें अभिन्नता है एवं साधन और साध्यमें जातीय एकता है जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है उसकी प्राप्ति वर्तमानमें हो सकती है; क्योंकि जातीय तथा स्वरूपकी एकता उससे नहीं हो सकती जिससे देशकालकी दूरी हो। जिससे देशकालकी दूरी नहीं है उसके लिये भविष्यकी आशा करना साधकका अपना ही बनाया हुआ दोष है, जिसका साधकके जीवनमें कोई स्थान नहीं है।

यह सभीको मान्य होगा कि प्रत्येक प्राणी किसी-न-किसीका होकर ही रहता है। जो जिसका होकर रहता है उसके जीवनमें उसकी प्रीति तथा उसका विश्वास स्वतः उत्पन्न होता है। यह नियम है कि जिसके प्रति विकल्परहित विश्वास तथा अविचल प्रीति होती है उसकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

अब हमें अपना निरीक्षण करना चाहिये कि हम किसके होकर रहते हैं अथवा किसके होकर रहना चाहते हैं। इन दोनों बातोंका निर्णय अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति तथा स्वाभाविक लालसाके आधारपर ही हो सकता है। यदि स्वाभाविक लालसा और वर्तमान वस्तुस्थितिमें कोई भेद नहीं है तब तो साधन-निर्माणका प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि साधनकी आवश्यकता एकमात्र स्वाभाविक लालसाकी पूर्ति तथा वस्तुस्थितिसे ऊपर उठनेके लिये ही होती है। वर्तमानका अभाव ही साधनकी प्रेरणा देता है। इस दृष्टिसे सबसे प्रथम साधकको अपने वर्तमान अभावका स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए और उसकी पूर्तिके लिये उत्साहपूर्वक उत्कट लालसा जाग्रत् रहनी चाहिये। उत्कट लालसा उससे सम्बन्ध तोड़नेमें समर्थ होती है जो अपने अभीष्ट लक्ष्यसे भिन्न है, अथवा यों कहो कि अपने लक्ष्यसे सम्बन्ध जोड़ देती है। उसके बाद साधक उसीका होकर रहने लगता है।

विभु होनेकी रुचि हमें सभीका होकर रहनेकी, स्वाधीनताकी रुचि हमें अकेले रहनेकी और प्रेम-प्राप्तिकी अभिलाषा हमें किसी एकका ही होकर रहनेकी प्रेरणा देती है। जो अकेला नहीं रह सकता वह कभी स्वाधीन नहीं हो सकता, क्योंकि अपनेसे भिन्नकी

आवश्यकताका नाम ही पराधीनता है, जो सभीका होकर नहीं रह सकता वह राग-द्वेषरहित नहीं हो सकता, क्योंकि विभाजनसे ही राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है, और जो किसी एकका ही नहीं हो सकता वह प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि प्रेम अनेक सम्बन्धोंको एक सम्बन्धमें विलीन करनेपर ही हो सकता है। इस दृष्टिसे हमें सभीका होकर अथवा किसी एकका होकर ही रहनेका निर्णय करना होगा। यद्यपि स्वाधीनता, व्यापकता एवं प्रेम—ये तीनों एक ही जीवनकी वस्तुएँ हैं, इनमेंसे किसीका भी त्याग नहीं किया जा सकता, परन्तु साधन-दृष्टिसे साधकको आरम्भमें इन तीनोंमेंसे किसी एकको ही अपनाना होगा। हाँ, यह दूसरी बात है कि किसी एकके अपनालेनेपर शेष दो भी स्वतः आ जायँ।

सभीका होकर रहनेमें स्वार्थभाव गल जायगा, जिसके गलते सुख-दुखका द्वन्द्व मिट जायगा और व्यापकता आ जायगी। उसके आते ही वीतरागता उदय होगी जो सभीसे असंगकर अपनेहीमें सन्तुष्ट करनेमें समर्थ है। और यही वास्तविक स्वाधीनता है। प्रेम-प्राप्तिके लिये हमें व्यापकता और स्वाधीनताके रससे ऊपर उठना होगा तभी अलौकिक चिन्मय प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश होगा। यद्यपि स्वाधीनता एवं व्यापकता तथा प्रेम उस अनन्तकी ही विभूतियाँ हैं, परंतु साधककी रुचिके अनुसार उन विभूतियोंका अलग-अलग वर्णन किया जाता है। स्वाधीनता में ही जीवन और जीवनमें ही प्रेम निहित है।

करुणित और सुखियोंको देखकर प्रसन्न होने लगता है. करुणा सुखभोगकी आसक्तिको और प्रसन्नता भोगवासनाओंको खा लेती है। कारण कि खिन्नतासे ही भोगवासनाकी उत्पत्ति होती है। सुखभोगकी आसक्ति और भोग-वासनाओंका अन्त होते ही नित्य योग स्वतः प्राप्त होता है, जो स्वाधीनता, जीवन तथा प्रेम-प्राप्तिमें समर्थ है। इस दृष्टिसे किसीका बुरा न चाहनेमात्रसे ही सुगमतापूर्वक साधनका निर्माण हो जाता है। पर यह तभी सम्भव होगा जब हम सभीके होकर रहना सीखें। सभीके होकर रहनेके लिये हमें अपना निर्माण करना होगा। अर्थात् जो अपनेको इतना सुन्दर बना लेता है कि उसे अपनी प्रसन्नताके लिये किसी वस्तु, व्यक्ति आदिकी अपेक्षा नहीं रहती वही सभीका होकर रह सकता है।

वस्तु और व्यक्ति आदिकी अपेक्षा अविवेक सिद्ध है। यदि उस प्राप्त विवेकसे, जो अनन्तकी ओरसे स्वतःमिला है, अविवेकको मिटा दिया जाय तो हमें अपने लिये वस्तु, व्यक्ति आदिकी अपेक्षा शेष नहीं रहेगी। विवेकके अनादरका ही दूसरा नाम अविवेक है। यदि विवेकका अनादर न किया जाय तो अविवेक स्वतः मिट जाता है।

यद्यपि मानव-जीवन प्रसन्नता तथा आनन्दका प्रतीक है; परंतु विवेकके अनादरद्वारा हमने उसे राग-द्वेष, क्षोभ-क्रोध आदि विकारोंका केन्द्र बना लिया है। विकार किसीके भाग्यमें नहीं लिखे हैं और न किसीने हमें प्रदान किये हैं। वे तो हमने स्वयं ही अपनी भूलसे उत्पन्न कर लिये हैं।

अभिन्नतामें भिन्नताको स्वीकार करना ही भूल है। यद्यपि स्वरूपसे भिन्नताका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है, परंतु बाह्य गुणों, आकृतियों, कर्म तथा काल्पनिक भेदोंके कारण हमने अनेक प्रकारकी भिन्नता स्वीकार कर ली है, जिसने अनेक दोष उत्पन्न कर दिये हैं। समस्त सृष्टि एक है और उसका प्रकाशक भी एक है, तो फिर भिन्नताके लिये स्थान ही कहाँ है? अतः जो भी भिन्नता प्रतीत होती है वह हमारे प्रमादमें है वास्तवमें नहीं। यदि हम सभीके होकर अथवा उस प्रकाशकके होकर रहने लग जायँ, जो सभीका सब कुछ है और सभीसे अतीत है, तो बड़ी सुगमतापूर्वक वर्तमानमें ही प्रमादका अन्त हो सकता है। प्रमादका अन्त होते ही दिव्य चिन्मय जीवनमें प्रवेश हो जाता है। वही वास्तविक जीवन है, उसीकी प्राप्तिके लिये ही साधन निर्माण करना है और यह वर्तमानमें ही हो सकता है।

(२२)

प्रीति ही जीवन है

समस्त जीवनमें तत्त्वरूपसे प्रीति ही विद्यमान है। इस रहस्यको कोई विरले ही जान पाते हैं। प्रीतिकी अभिव्यक्तिमें ही प्राणीका पुरुषार्थ, प्रीतिके सदुपयोगमें ही नित-नव रस और प्रीतिकी अनन्ततामें ही जीवनकी पूर्णता विद्यमान है।

किसी-न-किसीकी प्रीतिका समूह ही व्यक्तिका अस्तित्व है। पर जब उस प्रीतिका उपयोग प्राणी अपने सुखके लिये करने लगता है तब उसका नाम लोभ, मोह आदि हो जाता है। वस्तुओंकी प्रियता और वस्तुओंकी आस्था जिसमें है उसीको लोभी और देहकी प्रियता और देहकी आस्था जिसमें है उसीको मोही कहते हैं। अथवा यों कहो कि लोभी तथा मोहीका स्वभाव ही लोभ तथा मोह है। लोभ और मोहका ही दूसरा नाम प्रमादयुक्त, सीमित प्रीति है। यह नियम है कि जिसमें जिसकी प्रीति होती है वह उसीमें उसको आबद्ध कर देती है। जैसे वस्तुओंकी प्रीति वस्तुओंमें और देहकी प्रीति देहमें व्यक्तिको आबद्ध कर देती है, जो वास्तवमें जड़ता है जड़तामें भी जो रसका भास है वह प्रीतिका ही है, पर उसे आसक्ति कहते हैं, प्रीति नहीं। इतना ही नहीं जितने बन्धन हैं उनमें सत्तारूपसे प्रीति ही विद्यमान है। जिस प्रकार इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव बुद्धिके ज्ञानका आदर नहीं होने देता और बुद्धिके ज्ञानकी आसक्ति नित्यज्ञानसे अभिन्न नहीं होने देती, उसी प्रकार

वस्तु, अवस्था एवं व्यक्तियोंकी प्रियता हमें अनन्तकी प्रीति होकर अनन्तसे अभिन्न नहीं होने देती। जिस प्रकार सूर्यके तापसे उत्पन्न हुए बादल सूर्यको ही ढक-सा लेते हैं उसी प्रकार नित्य ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित बुद्धिके ज्ञानकी आसक्ति और इन्द्रिय-ज्ञानका सद्भाव व्यक्तिको नित्य ज्ञानसे विमुख-सा कर देते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि इन्द्रियोंका ज्ञान बुद्धिके ज्ञानका अनादर करानेमें कैसे समर्थ होता है ? तो कहना होगा कि देहकी प्रियताने ही देहमें नित्यताका भास करा दिया है। यद्यपि देह स्वभावसे ही परिवर्तनशील है, परंतु देहकी तद्रूपता उस देहके परिवर्तनका प्रभाव व्यक्तिपर नहीं होने देती। बस, यही बुद्धिके ज्ञानके अनादरका हेतु है। बुद्धिके ज्ञानके अनादरमें ही इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव निहित है और कुछ नहीं। इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव ही व्यक्तिमें अनेक प्रकारका राग अङ्कित कर देता है। रागरूपी बादल ही अनुरागरूपी सूर्यको ढकनेका प्रयास करते हैं।

यह भलीभाँति जान लेना चाहिये कि यद्यपि सूर्यके तापसे उत्पन्न हुए बादल सूर्यको ढकनेका प्रयास करते हैं, परंतु उन बादलोंको छिन्न-भिन्न करनेकी सामर्थ्य भी सूर्यमें ही है। उसी प्रकार रागरूपी बादलोंका विनाश करनेकी सामर्थ्य अनुरागरूपी सूर्यमें ही है। ज्ञानकी न्यूनता प्रीतिको राग तथा मोह आदिमें परिवर्तित करती है और ज्ञानकी पूर्णता राग, मोह आदिको प्रीतिमें बदल देती है। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अल्प ज्ञानका प्रभाव ही चिन्मय प्रीतिका रागके रूपमें भास कराता है।

तत्त्वरूपसे विद्यमान प्रीतिको प्रकाशित करनेके लिये सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिये कि प्रीतिको आच्छादित करनेमें हेतु क्या है ? तो कहना होगा कि प्रीतिको आच्छादित करनेमें एकमात्र हेतु वस्तु और व्यक्ति आदिके द्वारा सुख-भोगकी रुचि है, जो वास्तवमें अविवेकसिद्ध है। अतः ज्यों-ज्यों सुखलोलुपता मिटती जाती है त्यों-त्यों प्रीति स्वतः उद्भासित होने लगती है। अतः प्रीतिको जाग्रत् करनेके लिये हमें सुखलोलुपताका अन्त करना परम आवश्यक है, जो विवेकसे ही हो सकता है। यह नियम है कि सुखलोलुपताका अन्त होते ही भोग-वासनाओंका अन्त हो जाता है, भोगवासनाओंके अन्तमें ही नित्ययोग निहित है और वही अचाह पद प्राप्त करानेमें समर्थ है। चाहरहित होते ही भिन्नता मिट जाती है और अभिन्नता आ जाती है, जो दिव्य चिन्मय प्रीति प्रदान करनेमें समर्थ है। अभिन्नता भेद तथा दूरीको खा लेती है, जिससे प्रीतिकी अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है।

प्रीतिकी अभिव्यक्ति अचाह होनेमें निहित है और सर्वस्व दे डालनेमें ही प्रीतिका उपयोग है, अन्य किसीमें नहीं। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रीतिके उपयोगसे प्रीतिकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है, क्षति नहीं; क्योंकि प्रीति स्वरूपसे चिन्मय तथा अनन्त है। इसी कारण प्रीतिके उपयोगमें नित-नूतन रस है।

प्रीतिजनित नित-नव रसका पात्र वही हो सकता है जिसे प्रीतिसे भिन्न अन्य किसी वस्तु आदिकी अपेक्षा न हो। अर्थात् जो कामरहित हो, कारण कि कामनायुक्त प्राणीको तो अपनी इच्छित वस्तुकी ही अपेक्षा होती है, प्रीतिकी नहीं। अतः यह निर्विवाद

सिद्ध है कि प्रीति उस अनन्तमें ही विलीन होती है जो कामसे अतीत है। प्रीतिका आरम्भ होता है पर अन्त नहीं, क्योंकि न उसकी निवृत्ति होती है और न पूर्ति। निवृत्ति उसकी होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और पूर्ति उसकी होती है जिसक लक्ष्य केवल नित्य वस्तु हो; परंतु प्रीति तो नित्य भी है और अनन्त भी। इसी कारण प्रीतिकी प्राप्ति होती है, पूर्ति और निवृत्ति नहीं। विकारोंकी निवृत्तिका परिणाम स्वाधीनता है, नित्यवस्तुकी जिज्ञासाकी पूर्तिका परिणाम जीवन है और प्रीतिकी प्राप्तिमें है अगाध, अनन्त रस। अतः प्रीति निवृत्ति और पूर्तिसे विलक्षण तत्त्व है। उसकी अनन्ततामें ही जीवनकी पूर्णता है।

कर्तव्यपरायणतासे लक्ष्यकी प्राप्ति

वर्तमान वस्तुस्थितिका अध्ययन करनेपर हमें अपने कर्तव्य और लक्ष्यका बोध हो जाता है। कर्तव्यका ज्ञान कर्तव्यनिष्ठ बनानेमें और कर्तव्यपरायणता लक्ष्य-प्राप्ति करानेमें समर्थ है। जिस बीजमें उगनेकी शक्ति विद्यमान है उसके उगानेमें ही पृथ्वी, जल, वायु आदि सहयोग देते हैं। उसका विरोध नहीं करते। इसी प्रकार कर्तामें विद्यमान कर्तव्यनिष्ठाको सफल बनानेमें ही प्राप्त परिस्थितियाँ सहयोग देती हैं, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। यह नियम है कि न्यायमें हित निहित रहता है, अहित नहीं। इस दृष्टिसे कर्तव्य-परायण साधकके जीवनमें असफलताका कोई स्थान नहीं है।

परिस्थितियोंके द्वारा अहित होनेका भय हमारी असावधानीसे प्रतीत होता है, वास्तवमें नहीं; क्योंकि साधकके जीवनमें अहितकी ओर गतिशील होनेके लिये कोई स्थान ही नहीं है, केवल हमारी असावधानी ही हमें अहितकी ओर ले जाती है। अब, यदि कोई यह कहे कि असावधानी क्या परिस्थितिका परिणाम नहीं है? तो कहना होगा कि असावधानी परिस्थितिजन्य नहीं है, अपितु जो कर सकते हैं उसके न करनेसे अथवा प्राप्त योग्यताके दुरुपयोगसे ही असावधानी उत्पन्न होती है, जो साधकका अपना बनाया हुआ दोष है, प्राकृतिक नहीं।

हाँ, यह अवश्य है कि जब साधक अपने बनाये हुए दोषको सहन नहीं कर सकता तब निर्दोष होनेकी सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। अर्थात् असावधानी अपने आप मिट जाती है। यह नियम है कि वही दोष सुरक्षित रहता है जिसे हम सहन करते रहते हैं। अतः असावधानी तभीतक रहती है जबतक हम उसे रखना चाहते हैं, असह्य होते ही असावधानी स्वतः मिट जाती है। असावधानीरूपी भूमिमें ही दोषरूपी पौधे उगते हैं और असावधानीके मिटते ही सभी दोष अपने आप मिट जाते हैं। इस दृष्टिसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि असावधानी ही सभी दोषोंका मूल है।

कर्तव्यपरायणतामें अपना हित तो है ही, परन्तु उसके द्वारा किसीका अहित भी नहीं होता, कारण कि कर्तव्यनिष्ठ प्राणियोंके द्वारा सभीके अधिकार सुरक्षित रहते हैं, किसीके अधिकारका अपहरण नहीं किया जाता। यह नियम है कि जिसके द्वारा किसीके अधिकारका अपहरण नहीं किया जाता उससे किसीको भय नहीं होता, अपितु सभीको प्रसन्नता होती है। इस कारण उसे स्वाभाविक ही सबकी सद्भावना मिलती है। अथवा यों कहो कि सभी उसके हित-चिन्तक हो जाते हैं, कारण कि उसके विकासमें सभीका विकास है। जिसके द्वारा सभीका विकास होने लगता है उसका न तो कोई विरोधी होता है और न कोई उसका अहित चिन्तन ही करता है। इतना ही नहीं, सभी जड़-चेतन प्राणी उसकी महिमा गाने लगते हैं और उसे सहयोग देकर अपनेको धन्य मानते हैं।

अनुकूलताका लालच और प्रतिकूलताका भय तभीतक जीवित है जबतक हम कर्तव्यनिष्ट नहीं होते, कारण कि कर्तव्यनिष्टा सब

प्रकारके रागका अन्त करनेमें समर्थ है। रागरहित होते ही अनुकूलताका लालच और प्रतिकूलताके भय-जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती। सभी दोषोंका मूल एकमात्र अनुकूलताका लालच तथा प्रतिकूलताका भय है। क्योंकि लालच तथा भयमें आबद्ध प्राणीका जीवन सीमित हो जाता है, जिससे अनेक प्रकारके भेद उत्पन्न होते हैं, जो संघर्षके मूल हैं। यह नियम है कि लालचका अन्त होते ही भय स्वतः मिट जाता है। भयके मिटते ही भिन्नता मिट जाती है. भिन्नताका अन्त होते ही सब प्रकारके संघर्ष स्वतः मिट जाते हैं और जीवनमें चिरशान्तिकी स्थापना हो जाती है। यह सभीको मान्य होगा कि सभी प्रकारकी सामर्थ्यका उद्गमस्थान शान्तिमें ही है। इस दृष्टिसे असमर्थताका अन्त करनेके लिये शान्तिको सुरक्षित रखना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब हम कर्तव्यनिष्ठ हों। कर्तव्यनिष्ठ होनेके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हमारा मन सभीका मन बन जाय। यह तभी सम्भव होगा जब हम अपने मनसे उन सभी बातोंको निकाल दें जिनमें दूसरोंका हित तथा प्रसन्नता निहित नहीं हैं। ऐसा करते ही हमारा मन हमारा न रहेगा, अपितु सभीका हो जायगा। अथवा यों कहो कि उस अनन्तसे अभिन्न हो जायगा जो सभीका सब कुछ है।

जबतक हम अपना मन अपने ही पास रखना चाहते हैं तबतक राग तथा क्रोध आदि दोषोंसे नहीं बच सकते। कारण कि जिनके द्वारा हमारे मनकी बात पूरी होगी उनसे राग हो जायगा और जो मनकी बात पूरी होनेमें बाधक होंगे उनपर क्रोध आ जायगा। राग एक ऐसा मधुर विष है जो सदैव मृत्युकी ओर ही गतिशील करता

रहता है। अर्थात् रागके रहते हुए हम अमर नहीं हो सकते और न बन्धनरहित ही हो सकते हैं; क्योंकि राग त्यागकी सामर्थ्यका अपहरण कर लेता है और त्यागके बिना कर्तव्यपालन सम्भव ही नहीं है। क्रोध एक ऐसी विलक्षण अग्नि है जो प्रथम उसीको जलाती है जिसमें क्रोध उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, क्रोधके आते ही कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। अथवा यों कहो कि क्रोधावेशमें आकर हमें जो नहीं करना चाहिये वह हम करने लगते हैं। अर्थात् क्रोध हमें कर्तव्यनिष्ठ नहीं होने देता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जबतक हम केवल अपने ही मनकी बात पूरी करते रहेंगे तबतक कर्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकेंगे। कर्तव्यनिष्ठ होनेके लिये हमें दूसरोंके अधिकारोंकी रक्षा करते हुए अपने अधिकारका त्याग करना होगा। दूसरोंके अधिकारकी रक्षासे विद्यमान रागकी निवृत्ति होगी और अपने अधिकारका त्याग नवीन राग उत्पन्न न होने देगा। विद्यमान रागकी निवृत्ति और नवीन रागकी उत्पत्ति न होनेपर मन-जैसी कोई वस्तु शेष ही न रहेगी। मनके शेष न रहनेका वास्तविक अर्थ यह है कि मन अमन हो जाय। जिस प्रकार भुना हुआ दाना भूख मिटानेमें भले ही समर्थ हो पर उग नहीं सकता उसी प्रकार मन अमन हो जानेपर वह जो स्वतः होना चाहिये उसके होनेमें भले ही उपयोगी सिद्ध हो; परंतु बन्धनका हेतु नहीं हो सकता। आवश्यक संकल्पोंकी पूर्ति और अनावश्यक संकल्पोंकी निवृत्तिपूर्वक मनमें निर्विकल्पता आ जाना ही मनका अमन होना है।

आवश्यक संकल्पोंकी पूर्तिसे बाह्य जगत्के सभी अधिकार

सुरक्षित होने लगते हैं; अर्थात् दूसरोंके हित तथा प्रसन्नतामें ही प्रवृत्ति होती है, सुखभोगमें नहीं। मनकी निर्विकल्पतासे उसे अन्तर्ज्योतिके साथ अभिन्नता हो जाती है, जो स्वरूपसे दिव्य और चिन्मय है। अथवा यों कहो कि मन चिन्मय होकर उस अनन्तकी प्रीति बन जाता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मन अमन कैसे हो? इस समस्याको हल करनेके लिये हमें यह भलीभाँति जान लेना चाहिये कि उत्पन्न हुए संकल्पकी अपूर्ति और पूर्तिमें जो दुःख तथा सुख होता है वही हमारे मनको अमन नहीं होने देता। यदि संकल्प पूर्तिके सुखका राग अङ्कित न हो और संकल्प-अपूर्तिके दुःखको भय, चिन्ता तथा क्षोभरहित होकर सहन कर लिया जाय तो बड़ी ही सुगमतासे मन अमन हो सकता है। दुखःका भय और सुखकी लोलुपता ही मनको दिव्य तथा चिन्मय नहीं होने देती। अतः दुःखके भय तथा सुखकी लोलुपताका साधकका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। दुःख केवल जागृति प्रदान करने के लिये और सुख उदारतापूर्वक सेवा करनेके लिये मिला है। सुख-दुःखके सदुपयोगसे मन स्वतः शुद्ध शान्त और दिव्य हो जाता है। मनकी शुद्धता निर्दोष बनाती है, शान्ति आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है और दिव्यता प्रीति प्रदान करती है। निर्दोषता, सामर्थ्य और प्रीति इन तीनोंका एक ही जीवनमें प्रादुर्भाव होता है। निर्दोषता गुणोंके अभिमानको खा लेती है, सामर्थ्य अमरत्व प्रदान करती है और प्रीति अनन्तसे अभिन्न कर देती है।

संकल्पकी अपूर्तिको सहर्ष सहन कर लेना ही तप है और

निर्मोहतामें दिव्य जीवन

वस्तुस्थितिपर विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि निर्मोहताके बिना जीवनकी सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मोहका हेतु क्या है? तो कहना होगा कि देहको सदैव बनाये रखनेकी आशा तथा विश्वास अथवा अपनेको देह मान लेना ही मोहका हेतु है, जो अविवेकसिद्ध है। यद्यपि अविवेकका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, परन्तु अपने जाने हुएका आदर न करना ही हमें वर्तमानमें मोहरहित नहीं होने देता। निज ज्ञानके अनादरका ही दूसरा नाम अविवेक है, जो वर्तमान जीवनमें मिटाया जा सकता है। इस प्रकार निर्मोहता वर्तमान जीवनकी वस्तु है।

अब विचार यह करना है कि जो हम जानते हैं उसके माननेमें कठिनाई क्या होती है? तो कहना होगा कि हमें जाननेके साधन तीन प्रकारसे प्राप्त हैं—इन्द्रियोंके द्वारा, बुद्धिके द्वारा और जो बुद्धिसे पर है उसके द्वारा। इन्द्रियोंके ज्ञानसे जो वस्तु हमें जैसी प्रतीत होती है, वही वस्तु उसी कालमें बुद्धिके ज्ञानके द्वारा वैसी प्रतीत नहीं होती। इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव हमें देह आदि वस्तुओंमें नित्यता तथा सुन्दरताका भास कराता है पर बुद्धिका ज्ञान उन्हीं वस्तुओंमें सतत परिवर्तन तथा मलिनताका दर्शन कराता है। यद्यपि वस्तु एक है, परंतु इन्द्रिय और बुद्धिके ज्ञानभेदसे उसकी प्रतीतिमें भेद हो

जाता है। यह नियम है कि जब इन्द्रियोंके ज्ञानको ही, जो अल्प है, हम पूरा ज्ञान मान लेते हैं तब रागकी उत्पत्ति होती है, वह मोहको बनाये रखनेमें हेतु है। परंतु जब हम बुद्धिके ज्ञानसे इन्द्रियोंके ज्ञानपर विजयी हो जाते हैं तब स्वतः राग वैराग्यमें और भोग योगमें बदल जाता है। भोग परिवर्तनशील वस्तुओंकी ओर गतिशील करता है और योग नित्यजीवनकी ओर। जब सहज योग भोगकी रुचिका अन्त कर देता है तब विचाररूपी सूर्य स्वतः उदय होता है, जो मोहरूपी अन्धकारको खा लेता है।

इस दृष्टिसे मोहका अन्त करनेके लिये हमें सहज योग प्राप्त करना होगा। वह तभी हो सकता है जब हम इन्द्रियकी दृष्टिकी अपेक्षा बुद्धिकी दृष्टिका अधिक आदर करें। इन्द्रियदृष्टिकी दृढ़ता मिटते ही बुद्धिदृष्टिकी दृढ़ता सिद्ध हो जायगी, जो सहज योग प्राप्त करानेमें समर्थ है। इन्द्रियज्ञानपर बुद्धिद्वारा विवेचन करते रहना इन्द्रियज्ञानको शिथिल बनाता है। परंतु जबतक बुद्धि-ज्ञानका प्रकाश स्थिर नहीं हो जाता तबतक वस्तुओंकी अनित्यता और मलिनताका चिन्तन होता रहता है, जो बुद्धिका व्यापार है और कुछ नहीं। बुद्धिका व्यापार तबतक चलता ही रहता है जबतक उसके ज्ञानका आदर दृढ़ नहीं होता। जिस प्रकार किसीकी विस्मृति ही अन्यकी स्मृतिका व्यापार चालू रखती है, उसी प्रकार इन्द्रियोंके व्यापारका प्रभाव ही बुद्धिके व्यापारको चलाता रहता है। ज्यों-ज्यों इन्द्रियव्यापार होनेपर भी इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव मिटता जाता है। त्यों-त्यों बुद्धिजनित ज्ञानका प्रभाव दृढ़ होता जाता है। ज्यों-ज्यों बुद्धि-जनित ज्ञानका प्रभाव दृढ़ होता जाता

है, त्यों-त्यों बुद्धिका व्यापार स्वयं सम होता जाता है। अर्थात् बुद्धिके ज्ञानकी दृढ़ता बुद्धिमें समता प्रदान करती है। बुद्धिमें समता आते ही इन्द्रियाँ विषयोंसे विमुख होकर मनमें विलीन हो जाती हैं, मन निर्विकल्प होकर बुद्धिमें विलीन हो जाता है। फिर बुद्धिसे अतीत जो नित्य ज्ञान है उससे अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही अमरत्व प्राप्त होता है उसके बाद मोह सदाके लिये मिट जाता है।

निर्मोहता हमें वर्तमानमें ही प्राप्त करनी चाहिये। उसके लिये भविष्यकी आशा करना भूल है, कारण कि निर्मोहता किसी कर्म तथा अभ्यासका फल नहीं है। अपितु विवेकसिद्ध है और विवेक हमें प्राप्त ही है। प्राप्त विवेकका आदर वर्तमानकी वस्तु है, भविष्यकी नहीं। क्योंकि आदर, कर्म और अभ्यासमें बड़ा भेद है। कर्म और अभ्यासके लिये देह आदि वस्तुओंकी अपेक्षा होती है पर विवेकके आदरके लिये तो हमें केवल देह आदि वस्तुओंसे विमुख होना है, जिसे वर्तमानमें ही किया जा सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि जिससे विमुख होना हो उसकी ममताका त्याग अनिवार्य है। किसी वस्तुको अपना न मानना अथवा मानना इन बातोंके लिये भी किसी कर्म तथा अभ्यासकी अपेक्षा नहीं है। अतः ममताका त्याग भी वर्तमानकी ही वस्तु है। इस दृष्टिसे साधक जब चाहे तब देहकी ममताका त्याग करके निर्मोहता प्राप्त कर सकता है।

अब यदि कोई यह कहे कि देहकी ममताका त्याग तो सम्भव ही नहीं है; क्योंकि उसका हमारा तो चिरकालका सम्बन्ध है, तो

कहना होगा कि जिस प्रकार चिरकालका अन्धकार वर्तमानके प्रकाशसे मिट जाता है, उसी प्रकार चिरकालकी ममता विवेकका आदर करते ही वर्तमानमें मिट सकती है।

इतना ही नहीं, प्राणी प्रमादवश देह आदिसे ममता भले ही कर ले पर उन्हें सदैव अपने साथ रख नहीं सकता; क्योंकि देहसे जातीय एकता तथा नित्यसम्बन्ध नहीं है, केवल माना हुआ सम्बन्ध है। यह नियम है कि माना हुआ सम्बन्ध न माननेमात्रसे ही मिट जाता है। उसके लिये कोई अभ्यास अपेक्षित नहीं है। स्वीकृति तो अस्वीकृतिसे मिटती है, किसी अभ्याससे नहीं। स्वीकृतिमें सत्ता उसीकी होती है जिसने उसे स्वीकार किया है; इस दृष्टिसे भी हम अपनी स्वीकृतिको जब चाहें तब अस्वीकृतिमें बदल सकते हैं। स्वीकृतिके आधारपर बनाया हुआ सम्बन्ध अस्वीकृतिमात्रसे ही मिट सकता है, अन्य प्रकारसे नहीं। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि यदि हम चाहें तो देहसे सम्बन्धविच्छेद करके वर्तमानमें ही मोहरहित हो सकते हैं।

निर्मोहता आते ही संयोगकी दासता और वियोगका भय मिट जाता है। उसके मिटते ही सहज भावसे नित्ययोग प्राप्त हो जाता है। अर्थात् हम उससे अभिन्न हो जाते हैं, जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूपकी एकता है। और अभिन्न होते ही जड़ता चिन्मयतामें और मृत्यु अमरत्वमें विलीन हो जाती है। अतः निर्मोहतापूर्वक हमें वर्तमानमें ही नित्यचिन्मय दिव्य जीवन प्राप्त कर लेना चाहिये। यही जीवन की सार्थकता है।

परिस्थितियोंसे अतीतके जीवनकी ओर

वर्तमान दशाका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवनमें वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियोंकी सीमासे पार होनेकी लालसा स्वभावसे ही विद्यमान है। उसकी पूर्तिके लिये प्राप्त परिस्थितिके बन्धनसे और अप्राप्त परिस्थितिके चिन्तनसे रहित होना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब हम प्राप्त वस्तु अवस्था आदिका सदुपयोगकर वस्तु आदिसे अतीतके जीवन को वर्तमानमें ही प्राप्त करें।

इस दृष्टिसे वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग साधन और वस्तु, अवस्था आदिसे अतीतका जीवन हमारा साध्य है। हम अपने साध्यसे केवल विमुख हुए हैं। उससे हमारी देश-कालकी दूरी नहीं है। जिससे देश-कालकी दूरी नहीं है उसकी प्राप्ति वर्तमानमें ही हो सकती है। जिसकी प्राप्ति वर्तमानमें हो सकती है, उसके लिये भविष्यकी आशा करना प्राप्तिकी लालसाको शिथिल बनाना है। लालसाको शिथिल बनाना ही साधककी सबसे बड़ी असावधानी है। यद्यपि साधकके जीवनमें असावधानीके लिये कोई स्थान ही नहीं है, परंतु संयोगजनित सुखकी लोलुपताने असावधानी उत्पन्न कर दी है।

अब विचार यह करना है कि सुख लोलुपताका हेतु क्या है? तो कहना होगा कि स्वार्थभावने ही सुखलोलुपताको जन्म दिया है।

स्वार्थभाव गलानेके लिये सेवाभावको अपना लेना आवश्यक है। सेवा उन्हींकी करना है, जिनसे छुटकारा पाना है। जिनसे छुटकारा पाना है उनसे ममता नहीं करना है। कारण कि ममता आसक्ति उत्पन्न करती है, जो बन्धनका हेतु है। अतः जिनसे विमुख होना है उनसे ममता करना भूल है। इस दृष्टिसे हमें शरीर आदि सभी वस्तुओंसे ममताका त्याग करना होगा। यह नियम है कि जिन वस्तुओंमें आसक्ति नहीं रहती उनके सदुपयोगकी सामर्थ्य आ जाती है। अतः देह आदिका सदुपयोग करनेके लिये भी हमें उनसे ममताका त्याग करना होगा।

अब यदि कोई यह कहे कि शरीर आदिकी ममताका त्याग तो सम्भव नहीं है, तो कहना होगा कि ममता करनेमात्रसे शरीरका कोई हित नहीं होता और ममताके त्यागसे कोई अहित नहीं होता। इतना ही नहीं, ममता किसी वस्तुको सुरक्षित भी नहीं रख सकती। जिस वस्तुका जो स्वभाव है, जो स्वरूप है वह वैसी ही रहेगी। ममतासे केवल वस्तु आदिमें आसक्ति उत्पन्न होती है, और कुछ नहीं होता। आसक्तिका साधनयुक्त जीवनमें कोई उपयोग नहीं है, अपितु आसक्तिरहित होनेसे ही साधनमें प्रगति सम्भव है। इस दृष्टिसे वस्तु आदिमें ममता करना भूल है। इस भूलके मिटते ही समस्त जीवन साधन बन जायगा। समस्त जीवन साधन बन जानेपर सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा वासनारहित सहज निवृत्ति स्वतः आ जायगी, जिसके आते ही स्वाभाविक लालसाकी पूर्ति हो जायगी जो साधकका उद्देश्य है।

यह नियम है कि शरीर आदि वस्तुओंका सदुपयोग कर

डालनेपर उनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, क्योंकि जिसका सही उपयोग कर लेते हैं उसकी आवश्यकता शेष नहीं रहती, कारण कि सही उपयोगका यह परिणाम होता है कि उपयोगकर्ता अपने लक्ष्यसे अभिन्न हो जाता है। फिर न तो कर्ताका ही अस्तित्व रहता है और न करनेके साधनोंकी ही आवश्यकता रहती है। परिस्थितिके सदुपयोगकी पूर्णतामें भले ही साधकका अस्तित्व तथा साधन-सामग्रीकी अपेक्षा न रहती हो पर सदुपयोगके प्रयासकालमें तो साधकको साधन-सामग्रीकी अपेक्षा रहती ही है। जिसकी अपेक्षा रहती है उसकी प्राप्ति स्वतः होती है, कारण कि प्राप्तके सदुपयोगमें यह विलक्षणता है कि अप्राप्तकी प्राप्ति आवश्यकतानुसार हो ही जाती है। अर्थात् वस्तुओंके सदुपयोगसे आवश्यक वस्तुएँ और अनित्य जीवनके सदुपयोगसे नित्य जीवन प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टिसे भी प्राप्तके सदुपयोगका हो महत्त्व है, प्राप्त वस्तु आदिके प्रति ममताका नहीं। अतः वस्तुओंके रहते हुए ही उनकी ममतासे रहित हो जाना है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जो वस्तुएँ हमें प्राप्त हैं उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण क्या है? तो कहना होगा कि सभी वस्तुओंमें अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु वर्तमान समय है। समयके सदुपयोगमें ही समस्त जीवनका सदुपयोग निहित है। इतना ही नहीं, समयके सदुपयोगसे अन्य वस्तुओंकी उपलब्धि हो सकती है, पर किसी भी वस्तुके बदलेमें समय नहीं मिल सकता। इस दृष्टिसे समयका सदुपयोग तथा आदर करना अत्यन्त आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा जब साधक व्यर्थ चेष्टा तथा व्यर्थ

बुद्धिका ज्ञान। यदि 'है' और 'यह' के मध्यमें काम न रहे तो स्वभावसे ही समस्त 'यह' बुद्धिमें विलीन हो जाता है और बुद्धि सम होकर उस 'है' से अभिन्न हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है।

कामके रहते हुए बुद्धिको मनकी ओर, मनको इन्द्रियोंकी ओर, इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर गतिशील होना पड़ता है जो वास्तवमें मृत्यु है। 'है' की जिज्ञासा कामको खा लेती है, फिर 'है' से नित्ययोग स्वतः प्राप्त हो जाता है, जो चिरशान्ति, नित्यज्ञान तथा प्रेमका हेतु है।

नित्ययोग और संयोगमें भेद है। संयोग होता है 'यह' की ओर गतिशील होनेसे और नित्ययोग होता है 'यह' से विमुख होकर 'है' के सम्मुख होनेसे। 'यह' की विमुखता 'यह' से असङ्ग करती है और 'है' की सम्मुखता 'है' से अभिन्न करती है। संयोग 'यह' की आसक्ति उत्पन्न करता है और अभिमानमें आबद्ध कर देता है तथा नित्ययोग निरभिमानतापूर्वक 'है' का प्रेम प्रदान करता है। संयोगमें मृत्यु और नित्ययोगमें अमरत्व निहित है।

'यह' की सेवा 'यह' को निर्मल बनाती है और 'यह' से विमुख कर 'है' से अभिन्न करती है; अतः 'यह' के अर्थमें जो कुछ है उसकी हमें सेवा करना है उससे ममता नहीं। श्रम, संयम, सदाचारद्वारा समस्त 'यह' की सेवा हो जाती है। सेवा त्यागमें और त्याग उस प्रेममें विलीन हो जाता है जो अनन्तसे अभिन्न करनेमें समर्थ है।

निर्भयताकी कुंजी

[जी]निका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि हमें किसी प्रकारका भी भय अपेक्षित नहीं है। जिसकी अपेक्षा नहीं है उसको बनाये रखनेमें हमारी ही असावधानी हेतु है।

अब विचार यह करना है कि भय उत्पन्न ही क्यों होता है? तो कहना होगा कि भयका कारण एकमात्र अविवेक, अविश्वास तथा अकर्तव्य है। इन तीनों दोषोंसे ही भयका साम्राज्य सुरक्षित रहता है। विवेकके अनादरसे अविश्वास और अविश्वाससे अकर्तव्यका जन्म होता है, जिसका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। अथवा यों कहो कि स्थानभेद से विवेकका अनादर ही अविश्वास और अकर्तव्यके रूपमें बदल जाता है; क्योंकि एक ही दोष स्थानभेदसे अनेक रूप धारण कर लेता है।

जाने हुएके अनुरूप न मानना और माने हुएके अनुरूप न करना ही अविवेक, अविश्वास तथा अकर्तव्य है। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अविवेक, अविश्वास तथा अकर्तव्य यह अपना ही बनाया हुआ दोष है, प्राकृतिक नहीं, परिस्थितिजन्य नहीं एवं किसी औरके द्वारा उत्पन्न किया हुआ नहीं। जो अपना बनाया हुआ दोष है उसका निवारण वर्तमानमें ही हो सकता है, कारण कि जैसा जानते हैं वैसा ही मान लेना और जैसा मान लेते हैं वैसा ही करने लगना वर्तमान जीवनकी ही वस्तु है। अत

यदि कोई यह पूछे कि अविवेक, अविश्वास और अकर्तव्यका स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि अनेक प्रकारका निर्णय ही अविवेक है, अनेक विश्वासोंका होना ही अविश्वास है और जिसके करनेपर कर्तामें करनेका राग शेष रहे वही अकर्तव्य है। एक निर्णय और एक विश्वास ही कर्तव्यनिष्ठ बनानेमें समर्थ है। अथवा यों कहो कि जो करना चाहिये उसके करनेके लिये हमें एक ही निर्णय और एक ही विश्वासकी अपेक्षा है। यह तभी सम्भव होगा जब निज ज्ञानका अनादर न करें। निज ज्ञानका आदर करते ही अपनेमेंसे देहभावका त्याग हो जायगा। देहभावका त्याग होते ही देहका विश्वास अपने विश्वासमें परिणत हो जायगा। देहका अविश्वास ही हमें सभी वस्तुओंमें अविश्वास करा देता है। यह नियम है कि जिसपर अविश्वास हो जाता है, उससे सम्बन्ध नहीं रहता। जिससे सम्बन्ध नहीं रहता, उसके रहने तथा न रहनेमें समानता आ जाती है। अर्थात् उसके न रहनेका भय मिट जाता है और रहनेमें कोई विशेषता नहीं भासती। अथवा यों कहो कि संयोगकी दासता तथा वियोगका भय मिट जाता है। इस दृष्टिसे शरीर आदि वस्तुएँ विश्वास करने योग्य नहीं हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि विश्वास करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि वस्तु आदिके न रहनेपर जो रहता है अथवा जब वस्तुएँ नहीं थीं तब जो था अथवा वस्तुएँ जिसका आश्रय पाकर प्रकाशित होती हैं—वही विश्वास करने योग्य है। जो विश्वास करने योग्य है, उसपर विश्वास करते ही अनेक विश्वास एक विश्वासमें विलीन हो जाते हैं। एक विश्वासके होते ही अनेक

सम्बन्ध एक सम्बन्धमें विलीन हो जाते हैं। जब अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्धमें विलीन हो जाते हैं तब अनेक चिन्तन मिटकर एक चिन्तन रह जाता है, जो जिज्ञासा तथा प्रिय लालसाका रूप धारण कर लेता है। जिज्ञासा उसीकी हो सकती है जिसके जान लेनेपर और कुछ जानना शेष न रहे और लालसा उसीकी होती है जो स्वभावसे ही अत्यन्त प्रिय हो अथवा जिसका किसी भी प्रकारसे त्याग न किया जा सके। इससे सिद्ध यह हुआ कि हम उसीको जानना चाहते हैं जो हमें अत्यन्त प्रिय हो और जिसका किसी भी प्रकारसे त्याग न कर सकें। इस दृष्टिसे लालसा और जिज्ञासा किसी एककी ही है। लालसा तथा जिज्ञासा उसीकी हो सकती है जिससे अभिन्नता हो सके, अथवा यों कहो कि जो प्राप्त हो सके। प्राप्त वही हो सकता है जो सर्वदा तथा सर्वत्र हो। जो सर्वदा सर्वत्र है उसीका सम्बन्ध वर्तमान जीवनसे है। जिसका सम्बन्ध वर्तमानसे है उसको वर्तमानमें ही प्राप्त किया जा सकता है। जिसके प्राप्त होते ही सब प्रकारके भय स्वतः मिट जाते हैं।

एक विश्वासको सुरक्षित रखनेके लिये अनेक विश्वासोंका त्याग अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा जब हम अनेक विश्वासोंकी उत्पत्तिके कारणको जान लें। यदि इस समस्यापर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट विदित होता है कि देह विश्वास होनेपर ही देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि अनेक प्रकारके विश्वास स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं और देह विश्वासका अन्त होते ही ये सब अपने-आप मिट जाते हैं, क्योंकि जिसको देहपर विश्वास नहीं रहता, उसे किसी वस्तु आदिकी अपेक्षा ही नहीं रहती। जिनकी अपेक्षा नहीं

रहती उनपर विश्वास करना आवश्यक नहीं रहता। अर्थात् देहविश्वास ही अनेक विश्वासोंका हेतु है। जिसपर विश्वास नहीं रहता उससे सम्बन्ध टूट जाता है, पर उसकी सेवाका दायित्व रहता है। इस दृष्टिसे शरीर सेवाका क्षेत्र है, ममताका नहीं। शरीरकी सेवामें ही विश्वकी सेवा निहित है; क्योंकि शरीरकी सेवा करनेपर शरीर विश्वके काम आने लगता है।

अब विचार यह करना है कि शरीरकी सेवाका स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि जितेन्द्रियता, निर्विकल्पता और समताके द्वारा ही शरीरकी पूर्ण सेवा हो सकती है। जितेन्द्रियताके द्वारा शरीरमें शुद्धि आती है, मनकी निर्विकल्पताके द्वारा सामर्थ्य आती है और बुद्धिकी समताके द्वारा शान्ति आती है। शुद्धि, सामर्थ्य और शान्ति आ जानेपर सर्वहितकारी प्रवृत्तियाँ स्वतः होने लगती हैं, जो विश्वकी सेवा है। शरीर और वस्तु आदिकी ममता तो केवल आसक्ति ही उत्पन्न करती है, उससे न तो शरीरका हित होता है और न समाजका ही। इस दृष्टिसे वस्तु आदिके प्रति ममता करनेका कोई स्थान ही नहीं है।

जिनसे ममतारहित होना है उनकी सेवा अवश्य करना है और जिनपर विश्वास करना है, उनसे ही प्रेम करना है; उन्हींको अपना मानना है और उन्हींसे अभिन्न होना है। यह तभी सम्भव है जब हम अचाह हो जायँ; क्योंकि चाह न तो प्रेम उत्पन्न होने देती है, न अपना मानने देती है और न अभिन्न होने देती है। शरीरसे सम्बन्धविच्छेद होनेपर सब प्रकारकी चाहका अन्त स्वतः हो जाता है। इस दृष्टिसे शरीरकी सेवामें ही उनका प्रेम निहित है,

जिनसे हमें अभिन्न होना है; क्योंकि समस्त विश्व उस अनन्तकी ही अभिव्यक्ति है। शरीर तथा विश्वकी सेवा ही कर्तव्यका, शरीर आदिसे सम्बन्धविच्छेद ही विवेकका और जो वस्तु, अवस्था आदिसे अतीत है उससे नित्य-सम्बन्ध ही विश्वासका प्रतीक है। अतः अविवेक, अविश्वास तथा अकर्तव्यका अन्त होनेपर ही निर्भयता प्राप्त हो सकती है जो सभीको अभीष्ट है।

सुखकी आशाके त्यागमें ही विकास

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि सब प्रकारकी असफलताका कारण एकमात्र सुखकी आशा है। कारण कि सुखभोगकी आशा सुखभोगसे भी अधिक भयंकर दोष है, क्योंकि सुखभोगसे अरुचि स्वाभाविक होती है, पर सुखकी आशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। सुखकी आशाका जन्म ममतासे होता है; क्योंकि जिसे हम अपना मान लेते हैं उसीसे सुखकी आशा करते हैं। अथवा यों कहो कि सुखकी आशा ही हमें अधिकारलालसामें आवद्ध कर देती है, जिसके समान और कोई परतन्त्रता नहीं है। इतना ही नहीं, अधिकारलालसा रहते हुए अपने अस्तित्वकी सिद्धि ही नहीं हो सकती; क्योंकि जिनके द्वारा अधिकार सुरक्षित होता है उनके अस्तित्वकी सिद्धि होती है और जो अधिकार माँगता है उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है।

यह सभीको मान्य होगा कि सुखकी आशा रहते हुए न कोई सेवा कर सकता है और न प्रेम। सेवाके बिना भौतिक विकास नहीं हो सकता और प्रेमके बिना वास्तविक जीवन नहीं मिल सकता। अब यदि कोई यह कहे कि सुखकी आशाके आधारपर ही तो माँ शिशुकी सेवा करती है और प्रेम देती है एवं सुखकी आशाके आधारपर ही पारस्परिक सेवा और प्रेमका आदान-प्रदान होता है, तो पूछना होगा कि यदि सुखकी आशाके आधारपर प्रेम होता है

तो मोह किसके आधारपर होता है? और यदि सुखकी आशाके आधारपर ही पारस्परिक सेवाका आदान-प्रदान निर्भर है तो फिर स्वार्थ भाव किसपर निर्भर है ?

प्रेममें तो अपने आपको मिटाना होता है और सेवाके लिये अपना सब कुछ देना होता है। जो अपने आपको मिटा नहीं सकता वह प्रेम नहीं कर सकता और जो अपना सर्वस्व दे नहीं सकता वह सेवा नहीं कर सकता। सेवाका अन्त त्यागमें है, सुखकी आशामें नहीं; और प्रेम अपने आपको देनेमें है कुछ माँगनेमें नहीं। सुखकी आशाके आधारपर की हुई सेवा भोगमें बदल जाती है, जिसकी पूर्ति होनेपर राग और अपूर्ति होनेपर द्वेष उत्पन्न होता है। द्वेष संघर्ष और राग बन्धन उत्पन्न करता है, जिसमें सभीका अहित है। अतः संघर्ष तथा बन्धनका अन्त तभी सम्भव है जब सुखकी आशासे रहित सेवा की जाय। इस दृष्टिसे सेवकके जीवनमें सुखकी आशाका कोई स्थान नहीं है। इतना ही नहीं, सेवकका हृदय तो करुणाके रससे और प्रसन्नतासे भरपूर रहता है। वहाँ भला सुखकी आशा कैसे ठहर सकती है ?

अब विचार यह करना है कि प्रेमप्राप्तिमें सुखकी आशा बाधक क्यों है ? तो कहना होगा कि सुखकी आशा अहंभावको पुष्ट और देहाभिमानको उत्पन्न करती है। प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश करनेके लिये सब प्रकारके अभिमानका अन्त करके अपने आपको मिटाना पड़ता है, क्योंकि प्रेम भेद तथा दूरी सहन नहीं कर सकता। अभिमान रहते हुए भेद मिट नहीं सकता और अहंके रहते हुए दूरी नहीं मिट सकती। दूरी मिटानेके लिये अहंका अन्त करना

होगा और भेद मिटानेके लिये अभिमानरहित होना होगा। यह तभी सम्भव होगा जब सुखकी आशा सदाके लिये मिटा दी जाय। इस दृष्टिसे सुखकी आशा प्रेमप्राप्तिमें बाधक है।

सेवा और प्रेमकी तो कौन कहे पारस्परिक एकता भी सुखकी आशाके कारण सुरक्षित नहीं रह सकती, क्योंकि सुखकी आशासे मिलना अलग होनेका हेतु है। अब यदि कोई कहे कि सुखकी आशाको लेकर मिलना अलग होनेकी तैयारी क्यों है, तो कहना होगा कि यदि सुखकी आशा पूरी हो गयी तो सुखसे सम्बन्ध हो जायगा और जिसके द्वारा आशा पूरी हुई उससे सुखभोग-कालमें सम्बन्ध नहीं रहेगा। यदि सुखकी आशा पूरी न हुई तो क्रोध उत्पन्न होगा, जो एकता नहीं रहने देगा। अतः सुखकी आशाकी पूर्ति और अपूर्ति दोनोंमें ही पारस्परिक भिन्नता अनिवार्य है। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सुखकी आशासे मिलना अलग होनेकी तैयारीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सुखकी आशाने ही तीव्र जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा जाग्रत नहीं होने दी। यदि हम सुखकी आशामें आबद्ध न होते तो संदेहकी वेदना अथवा प्रिय लालसाकी जागृति वर्तमान जीवनकी वस्तु हो जाती। यह नियम है कि जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवनसे हो जाता है उसके लिये व्याकुलता तथा जिज्ञासा स्वतः जागृत होती है। सुखकी आशा हमें वर्तमानका उपयोग नहीं करने देती अथवा यों कहो कि वस्तु-स्थितिका परिचय नहीं होने देती, जिसके बिना जो करना चाहिये उसे हम कर नहीं पाते और जो नहीं करना चाहिये उसमें आबद्ध हो जाते हैं। इस दृष्टिसे सुखकी

आशा समस्त असफलताओंका हेतु है। जिज्ञासुको तत्त्वज्ञानसे, योगीको योगसे और प्रेमीको प्रेमास्पदसे सुखकी आशाने ही अभिन्न नहीं होने दिया। इतना ही नहीं, सुखकी आशा ही अमरत्वसे मृत्युकी ओर गतिशील करती है। अतः सुखकी आशा रहते हुए हम अमर नहीं हो सकते, जो हमारी स्वाभाविक माँग है। इस दृष्टिसे सुखकी आशाका त्याग ही विकासका मूल है।

परचर्चासे हानि

वस्तु-स्थितिका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता और समयका बहुत बड़ा भाग परचर्चामें लग जाता है, जिससे बड़ी हानि यह होती है कि जिस आवश्यक कार्यके लिये सामर्थ्य, समय आदि मिले थे, वह पूरा नहीं हो पाता। यह नियम है कि आवश्यक कार्य पूरा न होनेसे और अनावश्यक कार्य करने से अशान्ति, भय, चिन्ता आदि अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं अथवा यों कहो कि जीवनका अनादर हो जाता है, जो अवनतिका मूल है। जीवनका आदर बड़े ही महत्त्वकी वस्तु है; क्योंकि जीवनके आदरमें ही साधनका निर्माण और साधनके निर्माणमें ही साध्यकी उपलब्धि निहित है। वर्तमान परिवर्तनशील जीवन नित्य, चिन्मय, दिव्य जीवन-प्राप्तिका साधन है, और कुछ नहीं।

साधन-सामग्रीका अपव्यय साधकको सफलतासे विमुख करता है। अतः साधन-सामग्रीका सद्व्यय करनेके लिये साधकको सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। वह तभी सम्भव होगा जब परचर्चाका त्याग कर दिया जाय। परचर्चा का त्याग करते ही प्रिय-चर्चा स्वतः होने लगती है, जो प्रेमके प्रादुर्भावके हेतु है। प्रेमका प्रादुर्भाव प्रेमास्पदसे अभिन्न करनेमें समर्थ है।

अब विचार यह करना है कि 'पर' और 'प्रिय' में क्या भेद

है ? 'पर' उसे कहते हैं, जिसका त्याग स्वाभाविक है और 'प्रिय' उसे कहते हैं, जिससे नित्य योग स्वाभाविक है अथवा यों कहो कि 'पर' उसे कहते हैं, जिससे जातीय तथा स्वरूपकी भिन्नता हो और 'प्रिय' उसे कहते हैं, जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता हो। जिससे एकता है उसीकी चर्चा रसरूप होती है। अथवा यों कहो कि रसका उत्पादन करती है। जिससे जातीय भिन्नता है उसकी चर्चा तो केवल राग-द्वेषमें ही आबद्ध करती है। राग पराधीनताको तथा द्वेष क्रोध, ईर्ष्या और हिंसा आदि अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है अर्थात् राग-द्वेषके रहते हुए दिव्य जीवन प्राप्त नहीं हो सकता। उसके बिना जीवनकी सार्थकता ही सिद्ध नहीं हो सकती। इस दृष्टिसे परचर्चा बड़ा ही भयंकर दोष है।

परचर्चासे तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, किंतु परसेवासे बहुत शुभ होता है। कारण कि प्राकृतिक नियमानुसार दूसरोंके प्रति जो कुछ किया जाता है, वह कई गुना अधिक होकर स्वयं अपने प्रति हो जाता है। इस दृष्टिसे दूसरोंकी सेवामें अपना हित है। सेवा स्वार्थभावको मिटा देती है; जिसके मिटते ही निष्कामता आ जाती है; उसके आते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपनेहीमें अपने वास्तविक जीवनका अनुभव हो जाता है। इतना ही नहीं, सेवाद्वारा भौतिक विकास भी स्वतः होता है। कारण कि सेवा सेवकको विभु बना देती है, अर्थात् सेवक समाजके हृदयमें निवास करता है; क्योंकि सेवकमें निर्वैरता स्वभावसे ही आ जाती है। निर्वैरताके आते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं।

अब विचार यह करना है कि सेवाका स्वरूप क्या है? सेवा दो प्रकारकी होती है—एक बाह्य और एक आन्तरिक। बाह्य सेवाका अर्थ है प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदिके द्वारा बिना किसी प्रत्युपकारकी भावनाके सर्वहितकारी कार्य करना। पर यह तभी सम्भव होगा जब हम प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदिको अपना न मानें, अपितु उसीका मानें जिसकी सेवाका सुअवसर मिला है; क्योंकि सृष्टि एक है, उसमें भेद करना प्रमाद है। अब यदि कोई यह कहे कि जब कोई वस्तु अपनी है ही नहीं और उसकी है जिसकी सेवा करते हैं, तब उसके नामपर सेवा कैसे हो सकती है। तो कहना होगा कि बाह्य सेवा जिन साधनोंसे की जा रही है, यद्यपि वे साधन एक ही सृष्टिके हैं और जिनकी सेवाकी जा रही है वे भी सृष्टिके ही अन्तर्गत हैं तो भी जिस प्रकार शरीरके अवयव परस्परमें एक दूसरेकी सेवा करते हैं उसी प्रकार सृष्टिसे प्राप्त साधनोंके द्वारा ही सृष्टिकी सेवाकी जा सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि जब सेवाद्वारा भेद गल जाता है, तब करना स्वतः होनेमें बदल जाता है और आन्तरिक सेवा स्वतः होने लगती है। आन्तरिक सेवाके लिये किसी बाह्य प्रवृत्तिकी अपेक्षा नहीं है। उसमें तो सर्वहितकारी भाव विभु होकर सभीको सब कुछ प्रदान करता है अर्थात् भावके अनुरूप आवश्यक वस्तु आदि स्वतः प्राप्त होने लगती हैं। सर्वहितकारी भाव सर्वात्मभाव प्रदान करता है अर्थात् सभीमें सेवक अपनेहीको अनुभव करता है; फिर सेवक, सेवा और सेव्यमें अभिन्नता हो जाती है। यही सेवाकी पराकाष्ठा है।

समस्त विश्वके साथ एकताका भाव आते ही विश्वसे अतीत जो विश्वका प्रकाशक है उसकी जिज्ञासा तथा लालसा स्वतः जाग्रत् होती है। जिसकी जिज्ञासा तथा लालसा जाग्रत् होती है उसकी चर्चा करनी चाहिये। कारण कि जिसकी चर्चा होने लगती है उसका चिन्तन होने लगता है और जिसका चिन्तन होने लगता है उसमें अनुरक्ति हो जाती है, जो समस्त आसक्तियोंको खाकर उस अनन्तसे अभिन्न कर देती है। इस दृष्टिसे चर्चा करने योग्य वही है, जिसकी जिज्ञासा तथा लालसा है। उसीसे हमारी जातीय तथा स्वरूपकी एकता भी है। उसीकी चर्चा प्रियकी चर्चा है। उसके नाते ही शरीर आदि वस्तुओंद्वारा विश्वकी सेवा की जा सकती है। अथवा यों कहो कि समस्त विश्वमें उसका ही दर्शन किया जा सकता है। जब समस्त विश्वमें उस अनन्तका ही दर्शन होने लगता है, तब पर-सेवा प्रिय-सेवाके रूपमें बदल जाती है। फिर प्रिय-सेवा प्रीतिके स्वरूपमें बदलकर अर्थात् केवल प्रीति होकर उस अनन्तको रस प्रदान करती है, जो दिव्य तथा चिन्मय है। अनन्तकी प्रीति भी अनन्तकी भाँति ही दिव्य तथा चिन्मय है। अथवा यों कहो कि प्रीति और प्रीतममें केवल प्रेमका ही आदान-प्रदान है, जो रसरूप और नित-नव है। इस दृष्टिसे सेवा प्रीतिकी जागृतिका हेतु है।

पर-चर्चाका अर्थ है वस्तु, व्यक्ति आदिकी चर्चा और पर-सेवाका अर्थ है प्राप्त वस्तु आदिके द्वारा सर्वहितकारी कार्य करना। उसका फल है वस्तु आदिकी आसक्तिका न रहना। वस्तु आदिकी आसक्ति मिटते ही वस्तुओंसे अतीतके जीवनकी जिज्ञासा जाग्रत् होती है,

जो भोगेच्छाओंको खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। उसकी पूर्तिमें ही अमर जीवन निहित है।

इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्राप्त योग्यता सामर्थ्य और वस्तु आदिके द्वारा प्राणिमात्रकी सेवा करना तो आवश्यक है, पर उनकी चर्चाके लिये कोई स्थान नहीं है। अतः पर-चर्चाका त्याग करके पर-सेवाद्वारा हमें अपनी जिज्ञासा तथा लालसाकी पूर्ति कर लेनी चाहिये।

(३०)

सफलताकी कुंजी

जीवनके अध्ययन तथा वर्तमान दशाके परिचयमें ही साधननिर्माण निहित है, जो सिद्धिका हेतु है। साधनका निर्माण और साध्यका निर्णय वर्तमान दशाके ज्ञानसे ही सम्भव है। वर्तमानके अभाव-दर्शन और असंतोषसे ही हम अपने साध्यको जान सकते हैं; क्योंकि षर्तमानका अभाव-दर्शन ही भविष्यकी उपलब्धिमें और असंतोष ही वर्तमान दशाके परिवर्तनमें हेतु है। अभावका ज्ञान पूर्णताकी जिज्ञासा जाग्रत् करता है; क्योंकि अभाव किसीको भी स्वभावसे अभीष्ट नहीं है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि अभावका ज्ञान साध्यका निर्णय करानेमें समर्थ है। असंतोषकी व्यथा प्रयत्नशीलताका पाठ पढ़ाती है और प्राप्त योग्यता तथा सामर्थ्यका सदुपयोग करानेमें समर्थ होती है। इस दृष्टिसे असन्तोष और अभावका परिचय ही हमें वास्तविक जीवनकी ओर गतिशील करता है। पर कब ? जब अभाव तथा असन्तोषका कारण हम किसी औरको न मानें, अपितु यह जान लें कि अभाव अनित्य जीवनका स्वरूप है और असंतोप उत्कृष्टताकी लालसा है। लालसा उसीकी होती है जिसका अस्तित्व नित्य हो। अभावका ज्ञान किसी भावकी सिद्धिमें हेतु है; क्योंकि अभावका अभाव होना अनिवार्य है।

साधनतत्त्व बीजरूपसे साधकमें विद्यमान है और साध्यसे भी देश-कालकी दूरी नहीं है। इस दृष्टिसे साधक, साधन और

साध्य सर्वदा अभिन्न हो सकते हैं अर्थात् साधक साधनद्वारा साध्यको सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। साध्यकी उपलब्धि वर्तमान जीवनकी वस्तु है, उससे निराश होना भूल है। अपितु साधकके जीवनमें साध्यके लिये नित-नव-उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिये। यह नियम है कि जो वर्तमान जीवनकी वस्तु होती है उसके लिये नित-नव उत्कण्ठा स्वाभाविक उत्पन्न होती है। हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवनसे है उसके लिये भविष्यकी आशा करते हैं और जिसका सम्बन्ध वर्तमानसे नहीं है, जैसे अप्राप्त परिस्थिति, उसका वर्तमानमें चिन्तन करते हैं।

चिन्तनसे कोई परिस्थिति प्राप्त नहीं होती; क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति कर्मका परिणाम है। जिसकी प्राप्ति कर्मसापेक्ष है उसकी प्राप्ति वर्तमानमें नहीं हो सकती; परन्तु हम अप्राप्त परिस्थितियोंके चिन्तनमें आबद्ध होकर प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग नहीं कर पाते हैं; इसीलिये सार्थक चिन्तनका उदय भी नहीं हो पाता है। जिसके बिना साधन-निर्माण असम्भव हो जाता है, कारण कि प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग और सार्थक चिन्तन ही साधनके मुख्य अङ्ग हैं। प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगमें परतन्त्रता नहीं है और सार्थक चिन्तनमें किसी प्रकारका श्रम नहीं है; अतः साधनमें न तो परतन्त्रता है और न श्रम अर्थात् साधन करना सहज तथा स्वाभाविक है।

अब विचार यह करना है कि जब साधन सहज और स्वाभाविक है, तब हम उसे क्यों नहीं कर पाते ? तो कहना होगा कि हम

अपने जीवनका अध्ययन बिना किये और वर्तमान दशाको बिना जाने साधन करनेका प्रयास करते हैं, जो अस्वाभाविक है। इसी कारण न तो साधकको साधन रुचिकर होता है और न साधनके प्रति निस्संदेहता ही होती है। अरुचि और संदेहयुक्त साधनसे सिद्धि सम्भव नहीं है। हमें साध्यसे निराश नहीं होना है, अपितु साधनका निर्माण करना है। यह तभी सम्भव होगा जब हम 'क्या करें ?' इसको भूल जायँ और जो कर सकते हैं उसे करने लग जायँ। जो कर सकते हैं उसके करनेसे राग निवृत्त हो जाता है तथा जो करना चाहिये उसकी योग्यता और सामर्थ्य आ जाती है। जबतक साधककी साध्यसे अभिन्नता नहीं होती, तबतक सतत रूपसे यह क्रम चलता ही रहता है अर्थात् साधक साधन होकर साध्यकी ओर गतिशील होता रहता है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमसे तो कुछ भी नहीं हो सकता है, तो कहना होगा कि जो कुछ भी नहीं कर सकता है उससे वह भी तो नहीं हो सकता जो नहीं करना चाहिये। जो नहीं करना चाहिये उसके न करनेसे जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टिसे भी निर्बल-से-निर्बल प्राणी भी साधन कर सकता है। अतः हमसे साधन नहीं हो सकता, यह कहना उसी समयतक सम्भव है जबतक हम साधन नहीं करना चाहते। साधनकी रुचिमें साधन करनेकी सामर्थ्य निहित है। अतः साधन न कर सकनेकी बात कहना अपने-आपको धोखा देना है।

प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग और सार्थक चिन्तन—ये दोनों

बातें ही साधननिर्माणमें हेतु हैं। परिस्थितिका सदुपयोग सभीको अभीष्ट है। पर विचार यह करना है कि परिस्थितिका सदुपयोग हम किसी अप्राप्त परिस्थितिके लिये कर रहे हैं अथवा परिस्थितियोंसे अतीत होनेके लिये। परिस्थितिका सदुपयोग यदि अप्राप्त परिस्थितिके लिये कर रहे हैं तो समझना चाहिये कि अभी हम उस जीवनको नहीं चाहते हैं जो नित्य है; क्योंकि सभी परिस्थितियाँ स्वभावसे ही परिवर्तनशील हैं। जो परिवर्तनशील है उससे हमारी जातीय तथा स्वरूपकी एकता नहीं हो सकती। जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता नहीं हो सकती वह हमारा वास्तविक जीवन नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे परिस्थितियोंसे अतीतका जीवन ही हमारा जीवन हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि परिस्थितिका सदुपयोग राग-निवृत्तिमें हेतु हो सकता है। वह कब, जब हमारा उद्देश्य परिस्थितिके सदुपयोगमें तो हो, पर परिस्थितिमें जीवनबुद्धि न हो। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है, पर हम उसे साधनसामग्री न मानकर उससे ममता कर लेते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि जो परिस्थिति राग मिटानेके लिये मिली थी वह नवीन राग उत्पन्न करनेका हेतु बन जाती है। उस समय हम परिस्थितिको ही जीवन मान लेते हैं, जो वास्तवमें अविवेकसिद्ध है।

सार्थक चिन्तनका उदय दो प्रकारसे होता है—निःसंदेहता प्राप्त करनेकी रुचिसे और अविचल प्रेम पानेकी तथा देनेकी लालसासे। अथवा यों कहो कि सार्थक चिन्तन निस्संदेहता और प्रेम-प्राप्तिके लिये ही अभीष्ट है, उसे किसी वस्तु, अवस्था आदिमें

आबद्ध नहीं करना चाहिये; क्योंकि वस्तु, अवस्था आदिका चिन्तन निरर्थक चिन्तन है। जब साधक ममतारहित होकर परिस्थितिका सदुपयोग करने लगता है, तब प्रत्येक कार्यके अन्तमें स्वभावसे ही जिज्ञासा, स्थिरता अथवा प्रीति उदय होती है। जिज्ञासा सभी भोगेच्छाओंको खाकर उस परम तत्त्वसे अभिन्न कर देती है जिसकी जिज्ञासा थी। स्थिरता सबल तथा स्थायी होकर चिर-शान्तिमें बदल जाती है और अमरत्वसे अभिन्न कर देती है। प्रीति व्यक्तित्वके मोहको गलाकर दिव्य तथा चिन्मय होकर अनन्तको आह्लादित करनेमें समर्थ होती है। अथवा यों कहो कि प्रीति प्रीतमकी सत्तासे ही प्रीतमको रस प्रदान करती है।

प्रत्येक कार्यके अन्तमें स्वभावसे ही आनेवाली शान्ति यदि सुरक्षित बनी रहे अर्थात् व्यर्थ चिन्तनसे भंग न हो तो अपने-आप विचारका उदय होता है, जिससे कामनाओंकी निवृत्ति तथा जिज्ञासाकी पूर्ति एवं प्रेमकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। अतः शान्तिको सुरक्षित रखनेके लिये हमें निर्मोहतापूर्वक दूसरोंके अधिकारोंकी रक्षा और अपने अधिकारका त्याग करते हुए प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना होगा।

साधन-निर्माण करनेके लिये साधकको सबसे प्रथम स्वभावसे ही उत्पन्न होनेवाले संकल्पोंको देखना होगा। जिस प्रकार हम पृथ्वीमें उगते और मिटते हुए पौधोंको अथवा खिलते और मुझति हुए पुष्पोंको देखते हैं, उसी प्रकार हमें मनमें उत्पन्न होने और मिटनेवाले संकल्पोंको देखना तो चाहिये, परंतु उनके साथ न तो सहयोग देना चाहिये और न उनसे भयभीत होना चाहिये। यदि

उन संकल्पोंमें कोई ऐसे हैं कि जिनकी पूर्तिके बिना हम किसी प्रकार नहीं रह सकते, जिनका सम्बन्ध वर्तमानसे है एवं जिनकी पूर्तिमें किसीका अहित नहीं है तो उनकी पूर्तिमें कोई संकोच नहीं करना चाहिये; परंतु उन संकल्पोंकी पूर्तिके सुखसे असङ्ग रहना चाहिये। ऐसा करनेसे अनावश्यक संकल्प उत्पन्न होकर स्वतः मिट जायँगे और आवश्यक संकल्प पूरे होकर मिट जायँगे। संकल्पोंके मिटते ही निर्विकल्पता आ जायगी और वर्तमान अवस्था संकल्पपूर्ति एवं संकल्पनिवृत्तिके रूपमें प्रतीत होगी। अथवा यों कहो कि संकल्पपूर्तिका सुख और संकल्पनिवृत्तिकी शान्ति प्राप्त होगी; किंतु अपनेको उस सुख-शान्तिमें भी संतुष्ट नहीं होना है अर्थात् सुख-शान्तिसे अतीतकी ओर गतिशील होना है। वह तभी सम्भव होगा जब संकल्पकी पूर्ति एवं निवृत्तिके जीवनसे अतीतके जीवनकी जिज्ञासा और लालसा जाग्रत् हो।

संकल्पकी उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति—ये तीनों ही अवस्थाएँ हैं, जीवन नहीं। जो साधक संकल्पकी उत्पत्तिके दुःख, पूर्तिके सुख एवं निवृत्तिकी शान्तिमें अपनेको आबद्ध नहीं करता, वही अवस्थाओंसे अतीतके जीवनकी जिज्ञासा तथा लालसा कर सकता है। प्रत्येक अवस्था स्वभावसे ही परिवर्तनशील तथा अपूर्ण है। इस दृष्टिसे पूर्णताकी जिज्ञासा एवं लालसा जाग्रत् होना अनिवार्य है; परंतु अवस्थाओंकी तद्रूपता ही हमें अवस्थाओंसे अतीतकी ओर गतिशील नहीं होने देती। यद्यपि अवस्थाओंका ज्ञाता अवस्थाओंसे सर्वदा अतीत है, परंतु अवस्थाओंसे मानी हुई एकताके कारण हम उनसे तद्रूप हो जाते हैं, जो वास्तवमें अविवेक है।

यह अवश्य है कि मानी हुई एकता कितनी ही सबल तथा स्थायी हो, किंतु जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूपकी एकता है उसकी जिज्ञासा और लालसाको मिटा नहीं सकती। जिसकी जिज्ञासा तथा लालसा मिटायी नहीं जा सकती उसकी पूर्ति अनिवार्य है; और मानी हुई एकता सर्वदा सुरक्षित नहीं रह सकती, अतः उसकी निवृत्ति अनिवार्य है। अथवा यों कहो कि मानी हुई एकताकी निवृत्तिमें ही उसकी प्राप्ति निहित है, जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है।

मानी हुई एकताकी निवृत्तिके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन संकल्पोंको पूरा करें जिनमें दूसरोंका हित तथा प्रसन्नता निहित है और उन संकल्पोंका अन्त कर दें जो सुख-भोगकी आसक्ति उत्पन्न करनेमें हेतु हैं। अथवा यों कहो कि सुखभोगकी आसक्ति दूसरोंके हित तथा प्रसन्नताकी प्रियतामें विलीन हो जाय। ऐसा होते ही सब प्रकारके रागका अन्त हो जायगा। रागरहित होते ही मनमें निर्मलता, चित्तमें प्रसन्नता, हृदयमें निर्भयता और बुद्धिमें समता स्वतः आ जायगी। फिर तो अप्रयत्न ही प्रयत्न हो जायगा, जो जिज्ञासाकी पूर्ति एवं प्रेमकी प्राप्ति करानेमें समर्थ है।

साधक जो साधन करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है उसका एकमात्र कारण यह है कि उसने साधन-निर्माण करते समय इस बातपर ध्यान नहीं दिया कि उसकी साधना उसकी योग्यता, रुचि, विश्वास एवं प्रियताके अनुरूप है या नहीं। साधकको उसी साधनसे सिद्धि हो सकती है जो उसे रुचिकर हो, जिसके प्रति अविचल विश्वास हो एवं जिसके करनेकी योग्यता हो। अतः साधककी योग्यता, रुचि, प्रियता एवं विश्वासके अनुरूप निर्मित साधन करनेमें

न तो असमर्थता ही है और न असफलता ही। इस दृष्टिसे किसी भी साधकको साधन-निर्माण तथा साध्यकी प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये, अपितु वर्तमानमें ही साधन निर्माण कर सिद्धि प्राप्त करनेके लिये नित-नव उत्कण्ठा जाग्रत् करनी चाहिये। यही सफलताकी कुंजी है।

(३१)

विश्रामकी महिमा

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि निर्बलताओंका अन्त, आवश्यक सामर्थ्यकी प्राप्ति और लक्ष्यसे अभिन्नता विश्राममें ही निहित है। इस दृष्टिसे विश्राम निर्बलका बल तथा सफलताके लिये अचूक अस्त्र है। इतना ही नहीं, जब सभी प्रयास असफल हो जाते हैं, तब विश्रामसे सफलता होती है। इस दृष्टिसे विश्राम अन्तिम साधन है। पर उसकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब सुख-लोलुपता तथा दुःखका भय शेष न रहे; क्योंकि सुखकी दासता तथा दुःखका भय ही विश्रामकी अभिव्यक्ति नहीं होने देता।

अब विचार यह करना है कि सुखकी दासता तथा दुःखका भय कबतक जीवित रहता है ? तो कहना होगा कि जबतक हम अपने संकल्पोंकी पूर्ति चाहते हैं। संकल्पोंकी पूर्ति कबतक चाहते हैं ? जबतक अपनेको देहमें आबद्ध रखते हैं। देहमें आबद्ध कबतक रखते हैं ? जबतक सभी मान्यताओंसे अतीतके जीवनका अनुभव नहीं कर लेते। कोई भी प्राणी अपनेको केवल देह मानकर कभी भी भोगकी वासनाओंसे रहित नहीं हो सकता और उसके बिना निःसंकल्पता आ नहीं सकती। निःसंकल्पताके बिना सुखकी दासता और दुःखका भय मिट नहीं सकता। इस दृष्टिसे भोग वासनाओंका त्याग ही द्वन्द्वात्मक जीवनसे

रहित होनेका मुख्य साधन है। द्वन्द्वात्मक जीवनका अन्त होते ही पूर्ण विश्राम स्वतः मिल जाता है। जिसके मिलते ही नित्य योग हो जाता है, जो जिज्ञासा-पूर्ति तथा प्रेम-प्राप्तिमें हेतु है। जिज्ञासा-पूर्तिसे अमरत्व और प्रेम-प्राप्तिसे अगाध अनन्त रसकी उपलब्धि होती है। अतएव लक्ष्यसे अभिन्न होनेके लिये विश्राम अत्यन्त आवश्यक है।

अब विचार यह करना है कि विश्रामकी उपलब्धि कैसे हो? तो कहना होगा कि प्रत्येक दशामें क्षोभरहित होनेसे ही यथेष्ट विश्राम मिल सकता है। हम क्षोभरहित तभी हो सकते हैं जब हमारी दृष्टि वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदिके सतत परिवर्तनपर लगी रहे। अर्थात् अनुकूलता तथा प्रतिकूलता सदैव नहीं रहेगी, यह अनुभूति जीवन बन जाय। अनुभूतिके आदरके बिना साधननिर्माण सम्भव नहीं है। इस कारण अनुभूतिका आदर अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि अनुभूति ही साधकके पथ-प्रदर्शनमें हेतु है।

विश्रामका स्वरूप क्या है? विश्राम आलस्य नहीं है, अकर्मण्यता नहीं है, क्योंकि आलस्य और अकर्मण्यतासे तो प्राणी व्यर्थ चिन्तन तथा जड़तामें आबद्ध हो जाता है और विश्राम व्यर्थ चिन्तनरहित होनेपर तथा जड़तासे अतीत होनेपर ही सम्भव है। विश्राम वह जीवन है जिससे सभी क्रियाएँ उदित होती हैं अथवा जिसमें सभी क्रियाएँ विलीन होती हैं अर्थात् क्रियाशीलताका उद्गम-स्थान भी विश्राम है और उसका लयस्थान भी विश्राम ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त कर्मोंकी भूमि भी

विश्राम ही है। अतः विश्रामसे प्राणी अकर्मण्य तथा आलसी नहीं हो सकता। जिस प्रकार अचल हिमालयसे ही अनेक नदियाँ निकलती हैं और सभी नदियाँ जाकर उसी समुद्रमें विलीन होती हैं, जो अपनी मर्यादामें ही प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार समस्त प्रवृत्तियोंका उद्गमस्थान भी विश्राम है और समस्त प्रवृत्तियोंका अन्त भी विश्राममें ही निहित है।

विश्राम जड़तत्त्व नहीं है, क्योंकि यदि वह जड़तत्त्व होता तो उससे सभी प्रवृत्तियोंको न तो सत्ता ही मिलती, न उनका प्रकाशन ही होता और न वह सभी प्रवृत्तियोंको अपनेमें विलीन ही कर पाता। इस दृष्टिसे विश्राम चिन्मय तत्त्व है। अतः विश्राम उन्हींको प्राप्त होता है जो अपनेको सभी वस्तु, अवस्था आदिसे असङ्ग कर लेते हैं।

यह सभीको मान्य होगा कि शक्तिहीनता आ जानेपर विश्रामकी ही अपेक्षा होती है और विश्राम मिलनेपर स्वतः शक्तिहीनता मिट जाती है। इस दृष्टिसे शक्ति-संचयका केन्द्र एकमात्र विश्राम है। गहरी नींदके द्वारा विश्राम पाकर शारीरिक श्रम दूर हो जाता है और कार्य करनेकी क्षमता आ जाती है। निर्विकल्पताके द्वारा विश्राम पाकर जब मानसिक श्रम मिट जाता है, तब सूक्ष्म शक्तियोंका विकास होता है। समताके द्वारा विश्राम पाकर बौद्धिक शान्ति मिलती है, जिससे विचाररूपी सूर्यका उदय होता है, जो अमरत्वसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। इस दृष्टिसे शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक विश्रामकी भी आवश्यकता है। शारीरिक विश्राम आवश्यक श्रमसे, मानसिक विश्राम अनावश्यक संकल्पोंके

त्यागसे और बौद्धिक विश्राम संकल्पपूर्तिके सुखका त्याग करनेसे प्राप्त होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार भौतिक विकास भी विश्राममें ही निहित है। प्रत्येक बीज पृथ्वीमें विश्राम पाकर ही विकसित होता है। मृत्यु ही नवीन जीवन देती है, जो प्राकृतिक विश्राम है। जीवनका सदुपयोग जीवनकालमें ही विश्राम प्रदान करता है, जो नित्य जीवनका हेतु है।

अब यदि कोई कहे कि विश्राम-जैसी महत्त्वपूर्ण स्वाभाविक वस्तु हमें क्यों नहीं प्राप्त होती, तो कहना होगा कि प्राप्त सामर्थ्यका दुरुपयोग तथा उसका अभिमान हमें विश्राम नहीं करने देता। विश्राम उसीको प्राप्त होता है जो अपनेमें अपना कुछ नहीं पाता एवं जो न तो प्राप्तका दुरुपयोग करता है और न अप्राप्त वस्तुओंकी इच्छा ही। प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यताका सदुपयोग आवश्यक सामर्थ्य और योग्यता प्रदान करनेमें समर्थ है। इस दृष्टिसे असमर्थता तथा अयोग्यताका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। उसे तो हम प्राप्तके दुरुपयोगद्वारा ही प्राप्त करते हैं, जो अपनी ही भूल है।

विश्राम साधन भी है और साध्य भी। कारण कि विश्रामसे ही समस्त शक्तियोंका विकास होता है और उनके सदुपयोगसे अन्तमें मिलता भी विश्राम ही है, क्योंकि विश्राममें जीवन है,

है। सुखकी दासता हमें विश्रामका श्वास नहीं लेने देती। सुख-लोलुपताका अन्त करनेके लिये हमें दुःख और दुखियोंको अपनाना होगा। वह तभी सम्भव है जब सभीको अपना मानें; क्योंकि सभीको अपना मान लेनेपर सुखभोगके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता अर्थात् हृदय दुःखसे भर जाता है और दुखियोंसे अभिन्नता हो जाती है, जो सुखलोलुपताका अन्त करनेमें समर्थ है। सभीको अपना माननेकी सामर्थ्य तथा योग्यता तभी आती है जब देह आदि वस्तुओंको अपनी न मानें। देहादिको अपना न माननेकी सामर्थ्य विवेकसे ही आती है।

देह आदिसे अतीतका जीवन ही वास्तविक जीवन है। उससे अभिन्न होनेके लिये ही वर्तमान जीवन है। अतः देहादिके सदुपयोगद्वारा समाजके अधिकारोंकी रक्षा और अपने अधिकारोंका त्याग करते हुए यथेष्ट विश्राम प्राप्त करनेका प्रयत्न करें, जिससे अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे अभिन्न होकर कृतकृत्य हो जायँ, जो सभीका सब कुछ है।

विश्रामकी विधि

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि विश्राम जीवनका आवश्यक अङ्ग है; क्योंकि विश्रामके बिना न तो जिज्ञासाकी पूर्ति हो सकती है और न दिव्य चिन्मय प्रीतिकी जागृति ही। परंतु विश्रामकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब हम अपनेको देह, वस्तु, अवस्था आदि सभीसे विमुख कर सकें। यह तभी सम्भव होगा जब प्राप्त वस्तु आदिसे ममता न हो, अपितु उनका सदुपयोग हो और अप्राप्त वस्तु आदिका चिन्तन न हो। प्राप्त वस्तु आदिका सदुपयोग करनेपर उनसे सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। अप्राप्त वस्तु आदिकी चाह मिटनेपर व्यर्थ चिन्तन मिट जाता है। प्राप्त वस्तु आदिसे सम्बन्ध-विच्छेद और अप्राप्त वस्तु आदिके चिन्तनसे रहित होते ही हम स्वतः वस्तु आदिसे विमुख हो जाते हैं और हमें विश्राम मिल जाता है, जिसके मिलते ही जिज्ञासाकी पूर्ति और दिव्य चिन्मय प्रीति जाग्रत् हो जाती है। जिज्ञासाकी पूर्तिमें नित्य जीवन निहित है और प्रीतिकी जागृतिमें अनन्तसे अभिन्नता स्वतः सिद्ध है।

देह आदि वस्तुओंकी ममताका त्याग तथा उनके सदुपयोगकी सामर्थ्य प्राप्त करनेके लिये हमें देह आदिके स्वरूपको जानना होगा। अब विचार यह करना है कि जिस देहको हम अपना मानते हैं क्या वह वास्तवमें हमारी है अथवा संसाररूपी सागरकी एक लहर है? क्या शरीर और संसारका विभाजन हो सकता है? कदापि नहीं। अतः कहना होगा कि शरीर उसीका हो सकता है जिसका समस्त संसार है, हमारा नहीं। परंतु इसके सदुपयोगका दायित्व हमपर

अवश्य है; क्योंकि शरीर आदि वस्तुओंके साथ हमें विवेक भी मिला है। अतः प्राप्त विवेकके प्रकाशमें हमें शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुओंका सदुपयोग अवश्य करना है। अथवा यों कहो कि इन सब वस्तुओंको संसाररूपी वाटिकाकी खाद बना देना है। ऐसा करनेसे ही शरीर और विश्वकी एकता सिद्ध होगी। फिर अपने और परायेका भेद गल जायगा, जिसके गलते ही समस्त विश्व उस अनन्तकी लालसा बन जायगा। यह नियम है कि लालसामें सत्ता उसकी होती है, जिसकी वह लालसा है। इस दृष्टिसे समस्त विश्व केवल उस अनन्तकी लालसामात्र है, और कुछ नहीं। इसी कारण समस्त विश्व सतत उसीकी ओर दौड़ रहा है। अथवा यों कहो कि प्रत्येक वस्तु अपनेको सजा-धजाकर उसके भेंट कर रही है, क्योंकि प्रीतिका यह स्वभाव है, वह अपनेको सुन्दर बनाकर प्रीतमके समर्पित होनेमें ही अपनेको कृतकृत्य मानती है। अतः शरीर आदि वस्तुओंका सदुपयोग है विश्वकी खाद होकर उससे अभेद होनेमें और विश्वका सदुपयोग है उस अनन्तसे अभिन्न होनेमें, क्योंकि वास्तवमें समस्त विश्व उसकी अभिव्यक्ति है, और कुछ नहीं।

देह आदि वस्तुओंके स्वरूपको जान लेनेपर उनकी ममताका त्याग तथा उनका सदुपयोग होना तो स्वाभाविक ही है।

अब विचार यह करना है कि विश्राम-प्राप्तिमें क्या-क्या विघ्न हैं? तो कहना होगा कि जो वर्तमानका कार्य है उसे भविष्यपर छोड़ना और जो वर्तमानका कार्य नहीं है उसका चिन्तन करना अथवा यों कहो कि जो कर सकते हैं उसको न करना और जो करने योग्य नहीं है उसको करना अथवा जिसका होना सम्भव नहीं है

उसके करनेकी सोचना आदि विश्राममें विघ्न हैं।

अब विचार करें कि वर्तमानमें करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि शरीर और विश्वकी एकता, प्राप्त वस्तुओंकी ममताका त्याग एवं उनका सदुपयोग वर्तमान जीवनकी वस्तु है। ममतारहित होते ही सभी बन्धन स्वतः टूट जाते हैं, प्राप्त वस्तुओंका सदुपयोग करते ही सुन्दर समाजका निर्माण होने लगता है तथा शरीर और विश्वकी एकता सिद्ध होते ही निरभिमानता आ जाती है, जो सब प्रकारके संघर्ष मिटानेमें समर्थ है। अतः जो वर्तमानका कार्य है वही करने योग्य है; क्योंकि वर्तमानके सुधारमें ही सफलता निहित है।

यदि कोई कहे कि न करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि जो करने योग्य है उसके विपरीत जो कुछ है वह न करने योग्य है। किसका होना सम्भव नहीं है? जो समय निकल गया उसका हाथ आना सम्भव नहीं है; शरीर आदि वस्तुएँ वर्तमानमें जैसी हैं उनका वैसा ही रहना सम्भव नहीं है; व्यक्तित्वका मोह सुरक्षित रहना सम्भव नहीं है और अनन्तसे विमुख रहकर शान्ति पाना सम्भव नहीं है। अतः जिसका होना सम्भव ही नहीं है उसके लिये सोचना या चिन्ता करना जीवनका अनादर तथा सामर्थ्यका दुरुपयोग करना है, और कुछ नहीं। जो करने योग्य नहीं है उसके न करनेसे जो करने योग्य है उसकी योग्यता तथा सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। जो नहीं करना चाहिये उसका त्याग जो करना चाहिये उसकी भूमि है। इस दृष्टिसे जो करने योग्य है उसके करनेमें कोई असमर्थ तथा अयोग्य नहीं है।

अब विचार यह करना है कि जो करने योग्य है उसके करनेमें जब हम असमर्थ और अयोग्य नहीं हैं, तब हम उसे क्यों नहीं कर

पाते ? तो कहना होगा कि करनेकी सामर्थ्य तथा योग्यताको उसमें लगा देते हैं जो करने योग्य नहीं है। जैसे सामर्थ्य तथा योग्यताका बहुत बड़ा भाग हम संसारसे सुख लेनेकी आशामें लगा देते हैं। यद्यपि हमें तो संसारकी सेवा करना है, उससे लेना कुछ नहीं; क्योंकि बेचारा संसार स्वयं ही किसीकी खोजमें है। वह हमें दे ही क्या सकता है। तो भी हम उसके पीछे पड़े हैं, यही प्रमाद है। अतः हमें संसारकी धरोहर जो शरीर आदि वस्तुओंके रूपमें प्राप्त है, उसे संसारकी ही सेवामें लगा देना है और आगे उससे क्षमा माँग लेना है। जब हम संसारकी समस्त वस्तुएँ उसीकी सेवामें लगा देते हैं, तब हम स्वभावसे ही उसके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और समस्त संसार हमसे प्रसन्न हो जाता है; क्योंकि जो उसपर अधिकार नहीं जमाता, ससार उससे सदैव प्रसन्न रहता है। संसार उसीको भय देता है जो उसकी वस्तुओंको अपनी मान लेता है। अतः हमें संसारसे कुछ लेना नहीं है, अपितु उससे मिली वस्तुओंको उसीको दे देना है और स्वयं विश्राम पा लेना है, जो हमारा साधन है।

यह नियम है कि साधनतत्त्व साधकका जीवन है और साध्यका स्वभाव है। अतः विश्राम उस अनन्तका स्वभाव है और हमारा जीवन है। विश्राम आते ही दीनता तथा अभिमानकी अग्नि सदाके लिये शान्त हो जाती है, शरीर विश्वके काम आ जाता है और हृदयमें प्रीतिकी गङ्गा लहराने लगती है, जो निरभिमानतापूर्वक उस अनन्तसे अभिन्न कर देती है; क्योंकि प्रीति दिव्य और चिन्मय-तत्त्व है। प्रीतिसे अभिन्न होनेमें ही हमारे जीवनकी सार्थकता है; क्योंकि हमको प्रीतिसे और शरीर आदिको विश्वसे अभिन्न होना है तथा यही साधनकी सिद्धि है, जो चिर विश्राममें निहित है।

साधन-निर्माणकी भूमि

वर्तमान दशाका अध्ययन साधन-निर्माणकी भूमि है। जिस प्रकार बिना भूमिके कोई पौधा उग नहीं सकता, उसी प्रकार वर्तमान दशाका अध्ययन किये बिना साधन-निर्माण नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वर्तमान दशाका अध्ययन कैसे किया जाय? तो कहना होगा कि निज विवेकके प्रकाशमें अपनी उस रुचिको देखा जाय, जो बीजरूपसे विद्यमान है और उस योग्यताको देखा जाय, जिससे उसकी पूर्ति और निवृत्ति हो सकती है; क्योंकि विद्यमान रुचिकी पूर्ति तथा निवृत्तिके बिना हम अपने वास्तविक जीवनको प्राप्त नहीं कर सकते। भुक्त और अभुक्त रुचियोंके जालमें आबद्ध प्राणी परिवर्तनशील क्षणभंगुर जीवनसे मुक्त नहीं हो सकता।

अब विचार यह करना है कि साधन-निर्माणकी अपेक्षा ही क्यों है? तो कहना होगा कि वर्तमान दशामें दो बातें दिखायी देती हैं—एक तो परिवर्तनशील जीवनका राग और दूसरी नित जीवनकी जिज्ञासा। अतः रागकी निवृत्ति तथा जिज्ञासाकी पूर्तिके लिये ही साधनकी अपेक्षा है। पर साधनका निर्माण तभी सम्भ होगा जब अपनी वर्तमान वस्तुस्थितिको भलीभाँति जान लें उसके लिये हमें उत्पन्न हुए सभी संकल्पोंको देखना होगा औ उनमेंसे जो संकल्प रागनिवृत्ति तथा जिज्ञासापूर्तिमें हेतु हैं उन्हें पूरा करना होगा। रागनिवृत्तिमें वे ही संकल्प सहायक हो सकते

हैं जिनका सम्बन्ध वर्तमानसे हो और जिनकी पूर्तिमें किसीका अहित न हो। यह नियम है कि जिन संकल्पोंकी पूर्तिमें किसीका अहित नहीं है उनकी पूर्ति स्वतः हो जाती है, क्योंकि वे शुद्ध संकल्प होते हैं। शुद्ध संकल्पोंकी पूर्तिमें ही अशुद्ध संकल्पोंका त्याग अपने आप हो जाता है। अशुद्ध संकल्पोंका त्याग होते ही निर्वैरता तथा निर्भयता स्वतः आ जाती है। निर्वैरता द्वेषको खा लेती है और निर्भयता अपनेपर विश्वास उत्पन्न करती है। द्वेषके मिटते ही प्रीति स्वतः जाग्रत् होती है और अपनेपर विश्वास होते ही अपने साधनके प्रति अविचल श्रद्धा हो जाती है।

समस्त साधन तीन भागोंमें विभाजित हो जाते हैं—करनेमें, जाननेमें और माननेमें। अर्थात् हम क्या कर सकते हैं? हम क्या जान सकते हैं? और हमें क्या मानना अनिवार्य है? अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम क्या कर सकते हैं? तो कहना होगा कि प्राप्त बलका सदुपयोग तथा प्राप्त विवेकका आदर। बलके सदुपयोगसे सभी निर्बलताएँ मिट जाती हैं और विवेकके आदरसे निःसंदेहता आ जाती है। निर्बलताओंका अन्त होते ही जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है और निःसंदेहता आते ही ज्ञान और जीवनमें भेद नहीं रहता है। अर्थात् जीवन ज्ञानका प्रतीक हो जाता है। जब वह होने लगता है जो करना चाहिये, तब उसकी उत्पत्ति नहीं होती, जो नहीं करना चाहिये। अर्थात् अकर्तव्य सदाके लिये मिट जाता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हम क्या जान सकते हैं? तो कहना होगा कि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको और

बुद्धिसे शरीर तथा उससे सम्बन्धित वस्तु, अवस्था आदिके सतत परिवर्तनको जान सकते हैं। इन्द्रियोंसे जो वस्तु सत्य तथा सुन्दर प्रतीत होती है वही बुद्धिसे मलिन तथा असत्य दीखती है। जबतक अपनेपर इन्द्रियज्ञानका प्रभाव रहता है, तबतक रागकी उत्पत्ति होती रहती है। ज्यों-ज्यों इन्द्रियज्ञानका प्रभाव मिटता जाता है और बुद्धिज्ञानका प्रभाव होता जाता है, त्यों-त्यों राग अपने आप गलता जाता है। राग संयोगकी दासतामें आवद्ध करता है और उसके गलते ही नित्य योग स्वतः प्राप्त हो जाता है। अथवा यों कहो कि राग भोगमें आवद्ध करता है और उसके मिटते ही नित्य योग स्वतः प्राप्त हो जाता है। इन्द्रिय-ज्ञानका प्रभाव मिटानेके लिये बुद्धि-ज्ञानका आदर अनिवार्य है। बुद्धि-ज्ञानका अनादर और इन्द्रिय-ज्ञानका आदर ही साधन-निर्माण नहीं होने देता। अतः हम यह जान सकते हैं कि साधन-निर्माण करनेके लिये हमें बुद्धिजन्ति ज्ञानका आदर करना होगा। जिस प्रकार इन्द्रियज्ञान हमें संयोग, आसक्ति तथा मृत्युकी ओर ले जाता है, उसी प्रकार बुद्धिजन्य ज्ञान हमें नित्ययोग, प्रीति तथा अमरत्वकी ओर ले जाता है। अथवा यों कहो कि इन्द्रिय-ज्ञान हमें राग-द्वेषमें आवद्ध करता है एवं बुद्धि-ज्ञान हमें त्याग और प्रेम प्रदान करता है। अतः बुद्धि-ज्ञानसे ही हम अपना साधन जान सकते हैं और उसके द्वारा साध्यकी ओर गतिशील हो सकते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि मानने का साधन-निर्माणमें क्या स्थान है? तो कहना होगा कि हम अपनेको साधक मानकर ही साधनका निर्माण कर सकते हैं और साध्यको प्राप्त कर सकते

हैं। साधक किसे कहते हैं? साधक उसे कहते हैं जिसका कोई साध्य हो और जिसकी प्राप्तिके लिये उसमें कोई साधना निहित हो।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान वस्तु-स्थिति क्या है? तो कहना होगा कि इन्द्रियजन्य ज्ञानके प्रभावके कारण किसी-न-किसी प्रकार का राग है और बुद्धिजन्य ज्ञानके प्रभावके कारण नित्य योग, अमरत्व तथा प्रेमकी आवश्यकता है; क्योंकि नित्य योगके बिना संयोगकी दासता नहीं मिट सकती, अमरत्वके बिना मृत्युका भय नहीं मिट सकता और प्रेमके बिना संयोगजनित रसकी आसक्ति नहीं मिट सकती।

इस दृष्टिसे हमारा साधन वही हो सकता है जिससे विद्यमान रागकी निवृत्ति हो और नवीन रागकी उत्पत्ति न हो एवं नित्ययोग, अमरत्व और प्रेमकी प्राप्ति हो। साधकका जीवन समाजके अधिकारोंका समूह है, और कुछ नहीं। अतः विद्यमान रागकी निवृत्ति तथा नवीन रागकी उत्पत्तिके अन्तके लिये हमें सभीके अधिकारोंकी रक्षा तथा अपने अधिकारका त्याग करना होगा। ऐसा करनेसे ही प्राप्त बलका सदुपयोग हो सकता है। प्राप्त बलका सदुपयोग करते ही अधिकार-लालसारूपी निर्बलता सदाके लिये मिट जाती है, जो नवीन रागको उत्पन्न ही नहीं होने देती। रागरहित होते ही द्वेष स्वतः मिट जाता है। त्यागसे नित्ययोग एवं अमरत्व प्रेमसे अगाध अनन्त रस स्वतः प्राप्त होता है, जो वास्तवमें साध्य है।

अहं और ममके नाशमें जीवनकी सार्थकता

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि वास्तवमें अपनेमें अपनी-जैसी कोई वस्तु है ही नहीं अर्थात् अपनेमें अपना कुछ नहीं है; परन्तु जब हम प्रमादवश अपनेमें अपना कुछ मान लेते हैं, तब सीमित हो जाते हैं। सीमित होते ही अनेक प्रकारके भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेदके उत्पन्न होते ही अशान्ति तथा संघर्षका जन्म होता है और हम दीनता तथा अभिमानकी अग्निमें जलने लगते हैं।

यदि हम अपनेमें अपना कुछ न रक्खें तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सीमितसे असीमकी ओर, भेदसे अभेदकी ओर, अशान्तिसे चिर शान्तिकी ओर, संघर्षसे स्नेहकी एकताकी ओर एवं दीनता और अभिमानसे महानता तथा निरभिमानताकी ओर गतिशील हो सकते हैं। जो वास्तविक जीवनप्राप्तिमें हेतु है; क्योंकि सीमित होनेपर मृत्यु और असीमकी ओर गतिशील होनेपर अमरत्वकी उपलब्धि होती है। भेदसे भय और अभेदकी ओर गतिशील होनेपर निर्भयता प्राप्त होती है। अशान्ति और संघर्षसे अनेक प्रकारके क्षोभ और शक्तिहीनता तथा शान्ति एवं स्नेहकी एकतासे सामर्थ्य और क्षमाशीलता प्राप्त होती है। दीनता और अभिमानसे संकीर्णता और परिच्छिन्नता एवं निरभिमानता और महानतासे विभुता और अभिन्नता प्राप्त होती है।

अब विचार यह करना है कि क्या हमने शरीर, प्राण,

इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको अपनेमें आबद्ध कर लिया है अथवा अपने को इनमें आबद्ध कर दिया है ? यदि हमने शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको अपनेमें पकड़ लिया है तो इनका ह्रास अवश्य होगा और यदि अपनेको शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिमें आवद्ध कर दिया है तो अपना विनाश अवश्य होगा। क्या अपनेको देह मान लेनेपर कोई अमर हो सकता है ? कदापि नहीं। जिनसे हमारी ममता होती है क्या उनका विकास हो सकता है ? कदापि नहीं ? कारण कि जिसे हम अपना मान लेते हैं उसमें हमारी आसक्ति हो जाती है। यह सभीको मान्य होगा कि आसक्तिका दोष रहते हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिका विकास कभी सम्भव नहीं है; क्योंकि आसक्ति शरीरको आलसी इन्द्रियोंको विलासी, मनको असंयमी और बुद्धिको अविवेकयुक्त बना देती है। जबतक हम अपनेमें अपना कुछ भी मानेंगे, तबतक आसक्तिका अभाव नहीं हो सकता और आसक्तिके रहते हुए शरीर, इन्द्रिय आदिका विकास नहीं हो सकता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि जिनका हमें विकास अभीष्ट हो उनको अपना न मानें। यदि अपना जीवन अभीष्ट हो तो अपनेको किसीमें आबद्ध न करें। जब हम उन सबको निकाल देते हैं जिनको हमने अपनेमें रख लिया है, तब उन सबका विकास स्वतः होने लगता है एवं जब हम अपनेको उन सभीसे हटा लेते हैं जिनमें अपनेको रख दिया है, तब हम अनन्तसे अभिन्न होकर अमर हो जाते हैं।

जिसके साथ अहंभाव लग जाता है वह दूषित हो जाता है,

क्योंकि उसमें संकीर्णता आ जाती है। संकीर्णता स्नेहको विभु नहीं होने देती। सीमित स्नेहसे ही अनेक प्रकारके द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, जो विनाशके मूल हैं। इस दृष्टिसे अहंभावका अन्त करना अत्यन्त अनिवार्य है। अहंभावका नाश होते ही ममका नाश स्वतः हो जाता है। अहं और ममके मिटते ही अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे अभिन्नता हो जाती है। फिर सभीका विकास स्वतः होने लगता है; क्योंकि अनन्तकी कृपाशक्ति सभीको दिव्य तथा चिन्मय बनाने में समर्थ है।

जब हम प्रमादवश किसी वस्तुको अपना मानते हैं, तब हम अपनेको उसके भोगमें ही आबद्ध कर लेते हैं; न तो उस वस्तुको सुरक्षित रख सकते हैं और न उसका सदुपयोग ही कर पाते हैं, कारण कि लोभके रहते हुए वस्तुओंका सदुपयोग हो नहीं सकता। इतना ही नहीं, लोभमें आबद्ध प्राणीको आवश्यक वस्तुएँ भी प्राप्त नहीं हो पातीं; क्योंकि प्राकृतिक विधानकी दृष्टिसे आवश्यक वस्तुएँ उन्हींको प्राप्त होती हैं, जो वास्तवमें लोभरहित हैं। अतः किसी भी वस्तुको अपना मानना अपनेको दीन बनाना और समाजमें दरिद्रताको बढ़ाना ही है, जो संघर्षका मूल है।

यदि हमने शरीरको अपना न माना होता तो कभी कामकी उत्पत्ति न होती; मनको अपना न माना होता तो कभी अशुद्ध संकल्प उत्पन्न न होते और यदि बुद्धिको अपना न माना होता तो कभी विवेकका अनादर न होता। यह नियम है कि जिसमें हम अपनेको मिला देते हैं उसमें सत्यता और सुन्दरता भासने लगती है। अतः जब हम शरीरसे अपनेको मिला लेते हैं, तब

शरीर क्षणभंगुर तथा मलिन होते हुए भी सत्य और सुन्दर प्रतीत होने लगता है, जो कामकी उत्पत्तिमें हेतु है। जब हम मनसे अपनेको मिला लेते हैं, तब स्वार्थभाव उत्पन्न होता है, जो अशुद्ध संकल्पोंको जन्म देता है। जब हम बुद्धिसे अपनेको मिला लेते हैं, तब हमारा ज्ञान सीमित हो जाता है, जो विचारका उदय नहीं होने देता। इस दृष्टिसे अहंके मिलनेसे ही सभी विकार तथा दोष उत्पन्न होते हैं। अतः अहंरूपी अणुका अन्त करना अत्यन्त अनिवार्य है।

यह नियम है कि जो वस्तु स्थूल होती है वह सीमित और विनाशी होती है और जो सूक्ष्म होती है वह विभु और अविनाशी होती है। इस दृष्टिसे हमें उस सूक्ष्मताकी ओर जाना है जिसका विभाग न हो सके अर्थात् जो टूट न सके, अथवा यों कहो कि जिसमें विभाजन न हो सके। वह तभी सम्भव होगा जब हम अपने अहंभावरूपी अणुको तोड़ दें। उसके लिये हमें प्रथम सब प्रकारकी ममताको तोड़ना होगा। ममताका अन्त होते ही सब प्रकारकी चाहका अन्त होगा और चाहरहित होते ही अहंरूपी अणु स्वतः टूट जायगा—उसके लिये कोई अन्य प्रयत्न अपेक्षित नहीं होगा; क्योंकि चाहरहित होते ही अहं तथा ममका नाश हो जाता है। अहंरूपी अणुके टूटते ही भिन्नता मिट जाती है, जिसके मिटते ही अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे एकता हो जाती है और उसका प्रेम प्राप्त हो जाता है। अतः अपनेमें अपना कुछ न रखनेसे ही जीवनकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है।

—

साधनमें शिथिलता क्यों आती है ?

वस्तुस्थितिका अध्ययन करनेपर यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि साधनमें शिथिलता तथा असफलताका हेतु क्या है, जब कि वर्तमान जीवन साधनयुक्त जीवन है ? तो कहना होगा कि जब स्वार्थभाव सर्वहितकारी प्रवृत्तिमें और सर्वहितकारी प्रवृत्ति सहज निवृत्तिमें विलीन नहीं होती तभी साधनमें शिथिलता आती है और असफलताका दर्शन होता है। अर्थात् वर्तमानमें सिद्धि नहीं होती।

जब साधन अपनी योग्यताके अनुरूप नहीं होता और साध्य वर्तमानसे सम्बन्धित नहीं रहता, तब नित-नव उत्कण्ठा जाग्रत नहीं होती। उत्कण्ठाके बिना साधनमें शिथिलताका आ जाना स्वाभाविक है। साधनमें शिथिलता आ जानेपर, निरुत्साह और निराशा आदि दोष उत्पन्न होने लगते हैं। यद्यपि की हुई साधना कभी नष्ट नहीं होती, क्योंकि साधनतत्त्व नित्य है, परन्तु जिसकी उपलब्धि वर्तमानमें हो सकती है उसके लिये भविष्यकी आशा होने लगती है, जिससे साधनका अभिमान तो रहता है; परन्तु साधन साधकका समस्त जीवन नहीं हो पाता अर्थात् साधन जीवनका एक अङ्ग-मात्र रह जाता है, जो कालान्तरमें फल देता है।

अब विचार यह करना है कि साधनका आरम्भ कब

होता है ? विचार करनेपर पता लगेगा कि जब स्वार्थभाव अर्थात् दूसरोंसे सुख लेनेकी आशा मिटने लगती है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति होने लगती है, तब साधनका आरम्भ होता है; परन्तु जब साधक सर्वहितकारी प्रवृत्तिको ही जीवन मान लेता है, तब गुणोंका अभिमान उत्पन्न होता है, जो सहज निवृत्तिको प्राप्त नहीं होने देता । यही साधनमें विघ्न है । सहज निवृत्तिके बिना साधन वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितिपर ही आश्रित रहता है, जो वास्तवमें परतन्त्रता है । ऐसी साधना ऊपरसे तो साधनका अभिमान उत्पन्न करती है और भीतरसे असाधनको जन्म देती है । अथवा यों कहो कि साधन और असाधनमें द्वन्द्व होने लगता है । बस, यही असफलता का हेतु है ।

जबतक साधक अपनी प्राप्त शक्तिको लगाकर साध्यके लिये पूर्ण उत्कण्ठा जाग्रत् नहीं कर लेता, तबतक साधनमें सजीवता नहीं आती, जिसके बिना यन्त्रवत् साधन होता रहता है । यद्यपि साधन और साध्य दोनों ही वर्तमान जीवनकी वस्तु हैं; परंतु साधनकी शिथिलता हमें भविष्यकी आशामें आबद्ध करती है । पूरी शक्ति लगाना और उत्कण्ठाकी जागृति तभी सम्भव है जब हम साधन और साध्यको वर्तमानकी वस्तु मान लें । साधन उसके लिये नहीं करना है जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है और न उसके लिये करना है जिससे देश-कालकी दूरी है तो फिर साध्यको वर्तमानकी वस्तु माननेमें आपत्ति ही क्या है ?

जिस साध्यकी उपलब्धि संकल्पपूर्त्तिपर निर्भर है उसके लिये प्रवृत्ति अपेक्षित है । जिसके लिये प्रवृत्ति अपेक्षित है उसके लिये

भविष्यकी आशा अनिवार्य है; परन्तु जो साध्य संकल्प-निवृत्ति तथा उत्कण्ठा एवं लालसा-जागृतिसे प्राप्त होता है, उसके लिये भविष्यकी आशा तथा किसी अप्राप्त वस्तु-परिस्थिति आदिकी अपेक्षा नहीं है। जिसके लिये किसी वस्तु, अवस्था आदिकी अपेक्षा नहीं है उसके लिये तो उत्तरोत्तर उत्कण्ठाका बढ़ते रहना ही स्वाभाविक है। अथवा यों कहो कि उसके लिये शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी समस्त शक्तियाँ अपने-अपने स्वभावका त्याग करके साध्यकी लालसा बन जाती हैं अर्थात् अनेक इच्छाएँ एक लालसामें, अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्धमें और अनेक विश्वास एक विश्वासमें विलीन हो जाते हैं। समस्त जीवन एक विश्वास, एक सम्बन्ध और एक लालसाके रूपमें ही शेष रह जाता है अर्थात् साध्यकी लालसाके अतिरिक्त और कोई अपना अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। फिर वही लालसा जिज्ञासा होकर तत्त्वज्ञानसे और प्रेम होकर प्रेमास्पदसे अभिन्न हो जाती है। अथवा यों कहो कि जो लालसा अनेक कामनाओंको गलाकर उदय होती है वह दिव्य तथा चिन्मय हो जाती है, क्योंकि चिन्मय प्रेम ही प्रेमास्पदसे अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टिसे प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पदसे एकता हो जाती है।

सत्‌की खोज असत्‌के त्यागमें है, असत्‌के द्वारा नहीं। असत्‌का त्याग वर्तमानमें हो सकता है, अतः सत्‌की प्राप्ति वर्तमान जीवनकी वस्तु है; क्योंकि जब अपने द्वारा अपने प्रीतमको अपनेहीमें पाना है, तब उसके लिये श्रम तथा कालकी अपेक्षा ही क्या? जिस साधनके लिये श्रम तथा काल अपेक्षित नहीं है वही

निवृत्तिका साधन है। वह निवृत्तिका साधन उन्हींको प्राप्त होता है जो अपनेको समर्पण कर देते हैं। सर्वहितकारी वृत्तियोंका स्फुरण ही प्रवृत्तिमार्ग है और वृत्तियोंका स्फुरण न होना ही निवृत्तिमार्ग है। सीमित बल तथा सामर्थ्यके द्वारा असीम तथा अनन्तकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस कारण समर्पण ही अन्तिम साधन है। पर वह उन्हीं साधकोंको प्राप्त होता है जो निर्बल हैं तथा जो गुणोंके अभिमानसे रहित हैं। गुणोंके अभिमानसे रहित होते ही अनन्तकी कृपाशक्ति स्वतः सब कुछ करने लगती हैं। फिर न साधनमें शिथिलता आती है और न असफलताके लिये ही कोई स्थान रहता है; क्योंकि साधनमें शिथिलता और असफलता तभीतक जीवित है जबतक साधक अपने सीमित बल, योग्यता एवं गुणोंके द्वारा सफलताकी आशा करता है।

——

भिन्नताके अन्तमें जीवन

जीवनका अध्ययन करनेपर विदित होता है कि आसक्ति, संघर्ष और अशान्तिका एकमात्र कारण भेद तथा भिन्नता है, क्योंकि भेद तथा भिन्नताको स्वीकार करनेपर ही अनेक दोप उत्पन्न होते हैं जो आसक्ति, संघर्ष और अशान्तिके हेतु हैं। अब यदि कोई यह कहे कि मान्यताकी भिन्नता, गुणोंकी भिन्नता और कर्मकी भिन्नता तो स्पष्ट दिखायी देती है, फिर उसको क्यों न स्वीकार किया जाय? तो कहना होगा कि सभी मान्यताओंके मूलमें जो मान्यताओंका प्रकाशक है अर्थात् जिसकी सत्तासे मान्यताएँ सत्ता पाती हैं क्या उसमें भी भेद और भिन्नता है? कदापि नहीं; क्योंकि मान्यताएँ भले ही अनेक हों, परन्तु उनका प्रकाशक एक ही है। हाँ, यह अवश्य है कि मान्यताओंके भेदसे कर्मका भेद हो सकता है, स्वरूपका नहीं। अतः मान्यताओंका भेद होनेपर भी यदि स्वरूपका भेद स्वीकार किया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक जीवनमें अभिन्नता आ जायगी, जो निर्दोप बनानेमें समर्थ है।

जिस प्रकार मान्यताओं का भेद होनेपर भी स्वरूपकी एकता है, उसी प्रकार गुणोंकी भिन्नता होनेपर भी जातीय एकता है। जैसे लहर और समुद्रमें, शरीर और विश्वमें, अङ्ग और अङ्गीमें गुणोंकी भिन्नता होनेपर भी जातीय एकता है। यद्यपि शरीरके प्रत्येक अवयवकी आकृति, गुण और कर्ममें भेद है, परन्तु जातीय

एकता होनेसे, आकृति, गुण और कर्मका भेद होनेपर भी, समस्त शरीरके प्रति प्रियता एक-सी है।

यह सभीको मान्य होगा कि सर्वांशमें दो व्यक्ति भी समान योग्यताके नहीं होते। अतः योग्यता-भेद होनेके कारण कर्मका भेद अनिवार्य है; परन्तु प्रत्येक व्यक्ति स्वरूपसे तो विश्वके अधिकारका समूह है, और कुछ नहीं; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जो विश्वसे विभक्त की जा सके। इस दृष्टिसे समस्त विश्व स्वरूपसे एक है अथवा यों कहो कि समस्त विश्व किसी एककी ही एक अवस्थामात्र है। यह नियम है कि अवस्थाकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, अपितु अवस्थामें सत्ता उसीकी होती है जिसकी वह अवस्था है। अतः कर्मका भेद होनेपर भी सत्तारूपसे हम सब एक हैं। इस दृष्टिसे कर्म-भेद होनेपर भी प्रीतिभेदके लिये कोई स्थान नहीं है। स्वरूप, जातीय तथा प्रीतिकी एकता ही वास्तविक एकता है, जो भेद तथा भिन्नताको खाकर योग, बोध तथा प्रेम प्रदान करनेमें समर्थ है।

अब यदि कोई कहे कि ऐसी स्थितिमें तो मान्यताओंके भेदका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं रहा, तो कहना होगा कि मान्यताका भेद कर्तव्यभेदमें हेतु है, भिन्नतामें नहीं। कर्तव्यमें भेद होनेपर भी कर्तव्यपरायणतासे तो परस्परमें अभिन्नता तथा एकता ही सिद्ध होती है, भिन्नता नहीं। कारण कि किसीका कर्तव्य ही किसीका अधिकार और किसीका अधिकार ही किसीका कर्तव्य बनता है। इस दृष्टिसे मान्यताका भेद भी अभिन्नताका ही पोषक है।

गुणोंका भेद भी किसी वस्तुकी उत्पत्ति तथा उपयोगमें हेतु

है, जाति-भेदमें नहीं; क्योंकि गुणोंका भेद मिटनेपर किसी रचनाकी सिद्धि हो नहीं सकती। जिस प्रकार गहरी नींदमें अथवा समाधिमें गुणोंका भेद नहीं रहता तो किसी वस्तु, व्यक्ति आदिकी प्रतीति भी नहीं रहती; अतः वस्तु, व्यक्ति आदिकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशमें ही गुणोंका भेद अपेक्षित है, जातीय भिन्नतामें नहीं।

कर्मके भेदके बिना न तो किसी कार्यकी सिद्धि हो सकती है और न किसी समाजकी रचना ही हो सकती है। कर्मका भेद एक-दूसरेकी पूर्तिमें हेतु है, प्रीतिकी भिन्नतामें नहीं। अतः मान्यताका भेद, गुणोंका भेद और कर्मका भेद, कर्तव्यके लिये, कार्यकी सिद्धिके लिये और रचनाके लिये है, भिन्नताके लिये नहीं।

स्वरूप, जाति तथा प्रीतिकी एकताकी अनुभूति अमरत्व, सामर्थ्य और रस प्रदान करती है। स्वरूपका भेद स्वीकार करनेपर अनन्तसे अभिन्नता नहीं हो सकती और जातीय भेद स्वीकार करनेपर नित-नव प्रीतिका उदय नहीं हो सकता; क्योंकि स्वरूपका भेद स्वीकार करते ही सीमित अहंभाव प्रतीत होने लगेगा, जो भेद उत्पन्न करनेमें हेतु है। भेदके उत्पन्न होते ही वासनाएँ उदय होंगी, जो बन्धन तथा मृत्युकी ओर ले जाती हैं।

यह सभीको मान्य होगा कि एक कालमें दो स्वतन्त्र सत्ताओंका अनुभव किसीको नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि हमारी स्वीकृतिमें भले ही अनेक सत्ताएँ हों; परन्तु सभी स्वीकृतियोंके मूलमें तो एक ही स्वतन्त्र सत्ता है। इस दृष्टिसे अनेक सत्ताएँ उस एककी ही अभिव्यक्तियाँ हैं, और कुछ नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि उस एकमें अनेकताका भास ही क्यों होता है? तो

कहना होगा कि जब हम स्वरूपकी एकतासे च्युत होकर अपनेको किसी-न-किसी सीमित स्वीकृतिमें आबद्ध कर लेते हैं, तब इन्द्रियोंके ज्ञानसे तद्रूपता हो जाती है, जो एकमें अनेकताका दर्शन करानेमें हेतु है।

स्वीकृतिको अपना अस्तित्व मान लेनेपर 'स्व' से विमुख होकर 'पर' की ओर गतिशील होते हैं। फिर स्वरूपकी एकतासे च्युत हो जाते हैं। स्वरूपसे च्युत होते ही अनेक प्रकारके अभाव भासने लगते हैं, जो भिन्नता तथा संघर्ष आदि अनेक दोषोंकी उत्पत्तिमें हेतु हैं। अतः स्वीकृतिको त्यागकर स्वरूपकी एकता प्राप्त करना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा जब स्वीकृतिके आधारपर 'पर' की सेवा की जाय, 'पर' से किसी प्रकारकी आशा न की जाय। 'पर' की सेवा 'पर' के रागसे रहित करनेमें समर्थ है। रागरहित होते ही स्वीकृतिकी सत्ता मिट जायगी और स्वरूपकी एकता स्वतः सिद्ध हो जायगी।

स्वीकृतियोंके भेदके आधारपर अनेकों भेद क्यों न भासते हों, परन्तु उनके मूलमें जो एक है हमें उसीसे जातीय तथा स्वरूपकी एकता स्वीकार करनी है। अथवा यों कहो कि उससे अभिन्न होना है, जिससे अभिन्न होनेपर अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे एकता हो जायगी।

भिन्नताका अन्त करनेके लिये हमें विवेकपूर्वक अपनेहीमें अपने द्वारा अपनेसे अभिन्न होना अनिवार्य है, जिसके होते ही किसी औरका अस्तित्व ही न रहेगा अर्थात् भिन्नता सदाके लिये मिट जायगी।

है। इस दृष्टिसे भी यही सिद्ध होता है कि शरीरसे तद्रूपता होनेपर भी 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अपितु शरीरसे तद्रूप होनेपर 'मैं' का अर्थ समस्त विश्व हो जाता है। फिर व्यक्तिगत मान्यताके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता।

क्या विश्वके साथ एकता होनेवाली मान्यता हमारे जीवनमें कुछ अर्थ रखती है? यदि रखती है तो कहना होगा कि जिस प्रकार हम समस्त विश्वसे उपेक्षा भाव रखते हैं, उसी प्रकार हमें शरीरसे भी उपेक्षा रखनी होगी। अथवा जिस प्रकार शरीरके प्रति आत्मीयता रखते हैं, उसी प्रकार समस्त विश्वके प्रति आत्मीयता करनी होगी। शरीरके प्रति उपेक्षा होनेपर भी मोह-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती और समस्त विश्वके प्रति आत्मीयता होनेपर भी सीमित प्यार-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रह सकती। मोह तथा सीमित प्यारका अन्त होते ही अविवेक तथा सब प्रकारके रागका अन्त स्वतः हो जाता है। अविवेकका अन्त होते ही नित्य ज्ञानसे अभिन्नता और रागका अन्त होते ही नित्य योगकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

अब यदि कोई कहे कि ज्ञान तो इन्द्रिय, बुद्धि आदिमें भी है, तो कहना होगा कि इन्द्रियोंका ज्ञान पूरा ज्ञान नहीं है, अल्प ज्ञान है और बुद्धिका ज्ञान भी अनन्त ज्ञान नहीं है, सीमित है। इन्द्रिय-ज्ञानसे बुद्धि-ज्ञान भले ही विशेष हो, परन्तु अविवेकका अन्त होनेपर जिस ज्ञानसे अभिन्नता होती है वह तो अनन्त और नित्य ज्ञान है, सीमित तथा परिवर्तनशील नहीं। अथवा यों कहो कि इन्द्रिय, मन, बुद्धिका ज्ञान उस अनन्त ज्ञानसे ही प्रकाशित है, स्वतन्त्र नहीं है; परन्तु नित्य ज्ञान स्वयंप्रकाश है, परप्रकाश्य नहीं।

इन्द्रियोंका ज्ञान विषयोंमें आसक्ति और बुद्धिका ज्ञान विषयोंसे अनासक्ति करानेमें हेतु है। अथवा यों कहो कि बुद्धिके ज्ञानसे निर्विकल्प स्थिति प्राप्त हो सकती है तथा इन्द्रियोंके ज्ञानसे भोगोंमें आसक्ति ही उत्पन्न होती है, और कुछ नहीं; परंतु नित्य ज्ञानसे तो नित्य योग और अमरत्वकी प्राप्ति भी होती है। हाँ, इन्द्रियों के ज्ञानका उपयोग स्वार्थ-भावको त्यागकर विश्वकी सेवा करनेमें है और बुद्धिके ज्ञानका उपयोग विषयोंसे विरक्त होनेमें है। इस दृष्टिसे इन्द्रिय तथा बुद्धिके ज्ञान भी अपने-अपने स्थानपर आदरणीय हैं। परन्तु कबतक ? जबतक इन्द्रिय तथा बुद्धिके ज्ञानका दुरुपयोग नहीं होता। इन्द्रियज्ञानका दुरुपयोग है विषय लोलुपतामें और बुद्धिके ज्ञानका दुरुपयोग है विवादमें, जिसका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

'मैं' और विश्व एक है, यह मान्यता भी साधनरूप मान्यता हो सकती है, साध्यरूप नहीं; अर्थात् निर्णयात्मक नहीं। इस साधनरूप मान्यतासे हमें सीमित प्यारका अन्त करना है एवं देहके मोहसे और उसकी तद्रूपतासे रहित होना है। विश्वसे एकता स्वीकार करते ही सामूहिक सुख-दुःख अपना सुख-दुःख हो जाता है, जो हृदयमें करुणा और प्रसन्नता प्रदान करनेमें समर्थ है। करुणा भोग-प्रवृत्तिको और प्रसन्नता भोग-वासनाओंको खा लेती है, ऐसा होते ही समस्त कामनाओंका अन्त हो जायगा। कामनाओंका अन्त होते ही निर्दोषता आ जायगी और गुणोंका अभिमान गल जायगा, जिसके गलते ही परिच्छिन्नता तथा संकीर्णता सदाके लिये मिट जायगी। उसके मिटते ही अनन्तसे अभिन्नता हो जायगी। फिर सीमित प्यार-जैसी कोई वस्तु न रहेगी अर्थात् सभी आसक्तियाँ मिटकर उस अनन्तकी प्रीति

बन जायँगी। प्रीति तथा आसक्तिमें बड़ा अन्तर है। आसक्तिमें जड़ता और प्रीतिमें चिन्मयता होती है। आसक्ति मिट सकती है, पर प्रीति नित्य होती है। आसक्तिका जन्म किसी अविवेकयुक्त प्रवृत्तिसे तथा अभ्याससे होता है; परंतु प्रीति अभ्यासजन्य नहीं है, स्वभाव है, श्रमरहित है, जीवन है। यह अविवेकसिद्ध नहीं है, अपितु विवेकसिद्ध है। आसक्तिकी पूर्ति तथा निवृत्ति होती है, परन्तु प्रीतिकी न पूर्ति होती है न निवृत्ति। आसक्ति घटती, बढ़ती तथा मिटती है; किन्तु प्रीतिकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। यह घटती या मिटती नहीं है। आसक्ति वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदिमें सीमित रहती है; परन्तु प्रीति विभु होती है। आसक्ति बन्धन उत्पन्न करती है और मृत्युकी ओर ले जाती है; परन्तु प्रीति स्वाधीन बनाती है और अमरत्व प्रदान करती है। आसक्ति एकमें अनेकताका दर्शन कराती है और प्रीति अनेकताको एकतामें विलीन करती है; क्योंकि प्रीतिकी दृष्टिमें प्रीतमसे भिन्न कुछ नहीं रहता।

इस दृष्टिसे 'मैं' का अर्थ विश्वके साथ एकता अथवा अनन्तसे अभिन्नता अथवा अनन्तकी प्रीतिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अथवा यों कहो कि 'मैं' का अर्थ कुछ नहीं, या सब कुछ है, या केवल प्रीति ही है।

——

निस्संदेहतासे लक्ष्यकी प्राप्ति

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि निस्संदेहताके बिना न तो साधनका निर्माण हो सकता है और न साध्यकी उपलब्धि ही। इस दृष्टिसे निस्संदेहता साधनकी भूमि है और साधनके निर्माणमें ही साध्यकी प्राप्ति है।

अब विचार यह करना है कि निस्संदेहता प्राप्त करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये? तो कहना होगा कि निस्संदेहता दो प्रकारसे प्राप्त होती है—एक तो जिज्ञासाकी पूर्तिमें और दूसरी विकल्परहित विश्वासमें। जबतक जिज्ञासाकी पूर्ति नहीं होती तबतक भी निस्संदेहता नहीं आती और जबतक दो विश्वास रहते हैं तबतक भी निस्संदेहता नहीं आती। संदेहकी वेदना जिज्ञासाकी जागृतिमें हेतु है और जिज्ञासाकी जागृति कामनाओंकी निवृत्तिका कारण है। कामनाओंकी निवृत्तिसे जिज्ञासाकी निवृत्ति हो जाती है। फिर निस्संदेहता स्वतः प्राप्त हो जाती है।

संदेहकी उत्पत्ति सर्वदा अधूरी जानकारीमें होती है, पूरीमें नहीं तथा उसपर भी संदेह नहीं होता जिसके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते। इस दृष्टिसे संदेह करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि 'मैं' और 'यह'। क्योंकि 'यह' की प्रतीति तो हो रही है पर उसकी पूरी जानकारी नहीं है और 'मैं' को मानते तो हैं, पर जानते नहीं; अतः जो प्रतीत हो रहा है उसपर संदेह हो सकता है और जो मान्यता है उसपर भी संदेह हो सकता है।

यह सभीको मान्य होगा कि जिसे 'यह' कहते हैं उसे 'मैं' नहीं कह सकते और जिसे 'मैं' कहते हैं उसे 'यह' नहीं कह सकते एवं 'यह' और 'मैं' इन दोनोंमें नित्य सम्बन्ध भी नहीं हो सकता; क्योंकि 'यह'के परिवर्तनका जिसे ज्ञान है उसे अपने परिवर्तनका ज्ञान नहीं है। इस दृष्टिसे परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशीलका नित्य-सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, यह अवश्य है कि परिवर्तनशीलसे मानी हुई एकता हो सकती है, क्योंकि 'यह' से ममता कर सकते हैं, परंतु नित्य सम्बन्ध नहीं। इस दृष्टिसे 'यह' और 'मैं'का विभाजन अनिवार्य है, जिसके करते ही भोग-वासनाओंका अन्त हो जाता है और केवल यही तीव्र जिज्ञासा जाग्रत् होती है कि वास्तविकता क्या है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल और स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों जिज्ञासुका अहंभाव गलकर जिज्ञासासे अभिन्न होता जाता है। जिस कालमें जिज्ञासा अहंभावको खाकर पुष्ट हो जाती है उसी कालमें उसकी पूर्ति स्वतः हो जाती है अर्थात् वह वास्तविकतासे अभिन्न हो जाती है। फिर संदेह-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती।

'यह मैं नहीं है' इसे स्वीकार करते ही 'यह' से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है अर्थात् 'यह'की ममता मिट जाती है। इसके मिटते ही जीवनहीमें मृत्युका अनुभव हो जाता है। फिर 'मैं' सब ओरसे विमुख होकर अपनेहीमें अपने वास्तविक जीवनको पा लेता है। इस दृष्टिसे 'यह'को जानते ही 'मैं'को और 'मैं'को जानते ही वास्तविकताको जानकर निस्संदेह हो जाता है। निस्संदेहता प्राप्त होते ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं, अतः निस्संदेहता

प्राप्त करनेके लिये हमें वर्तमानमें ही प्रयत्नशील होना चाहिये। जबतक संदेहकी वेदना अत्यन्त तीव्र नहीं हो जाती, तबतक संदेह मिटानेकी योग्यता नहीं आती। यहाँतक कि यदि किसीको प्यास लगी हो और उससे कहा जाय कि तुम पहले पानी पीना चाहते हो अथवा निस्संदेह होना चाहते हो? इसपर यदि वह यह कहे कि मुझे निस्संदेह होना है पानी नहीं पीना है, तो समझना चाहिये कि संदेहकी वेदना जाग्रत् हो गयी। असह्य वेदना होते ही उसकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है। यह सब कुछ जिसके प्रकाशसे प्रकाशित है और जिसकी सत्तासे सत्ता पाता है, उसकी कृपाशक्ति स्वतः संदेहनिवृत्तिकी योग्यता प्रदान कर देती है, क्योंकि वह सब प्रकारसे समर्थ है।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसकी कृपाशक्ति जिज्ञासुको जिज्ञासापूर्तिकी सामर्थ्य प्रदान करती है उसे हम कैसे मान लें जब कि जानते नहीं हैं? तो कहना होगा कि जिसके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते हैं उसीको तो मानना है। जाननेके पश्चात् तो माननेका प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अथवा जिसके सम्बन्धमें कुछ जानते हैं उसपर तो संदेह हो सकता है, विश्वास नहीं। विश्वास उसीपर किया जाता है जिसके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते। वह एक ही विश्वास करने योग्य है। शरीर, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि कोई भी जो "यह"के अर्थमें आते हैं विश्वास करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि इन सबसे हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अब यदि कोई कहे कि हम तो शरीर आदिपर विश्वास न करके अपनेपर विश्वास करेंगे तो कहना होगा कि किसीने अपनेको

इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके द्वारा देखा नहीं। बुद्धि आदिके द्वारा जिसे देखा वह विश्वासके योग्य नहीं और जिसने बुद्धि आदिको जाना वह किसी मान्यतामें आबद्ध नहीं हो सकता।

अब कोई कहे कि हम तो उसीका नाम 'मैं' मान लेते हैं तो पूछना होगा कि 'है' किसको मानोगे? 'मैं' 'है' की अपेक्षा सीमित है। अतः अपनेपर विश्वासकी बात कहना भी तो मानना ही है, जानना नहीं। हाँ, यह हो सकता है कि हम उस अनन्तकी कृपाशक्तिको ही अपनी कृपा मान लें अथवा उस अनन्तको ही हम अपना स्वरूप मान लें; परन्तु ऐसी मान्यताका अर्थ यह होगा मानो जलकण कहता है कि समस्त सागर मेरा है। सागर तो यह कह सकता है कि जलकण मेरा ही स्वरूप है, पर जलकणका ऐसा कहना उपयुक्त नहीं मालूम होता। जलकण यह तो कह सकता है कि मैं सागरका हूँ। मेरी और सागरकी जातिमें कोई भेद नहीं है। अथवा यों कहो कि जलकण सागरकी प्रीति बनकर सागरमें ही निवास कर सकता है। इस दृष्टिसे उस एकका विश्वास ही हमें निस्संदेहता प्रदान कर सकता है। अतः जिज्ञासाकी पूर्तिमें अथवा एक विश्वासमें ही निस्संदेहता निहित है।

संदेहसे निस्संदेहता प्राप्त करना जिज्ञासुओंकी साधना है और विश्वाससे निस्संदेहता प्राप्त करना विश्वास-मार्गियोंकी साधना है। यह नियम है कि जब अनेक विश्वास एक विश्वासमें विलीन हो जाते हैं, तब अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्धमें और अनेक इच्छाएँ एक प्रिय-लालसामें विलीन हो जाती हैं। प्रिय-लालसा प्रियमें अभिन्न करनेमें समर्थ है। इस दृष्टिसे विश्वासके आधारपर भी वास्तविक जीवनकी प्राप्ति हो सकती है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

जीवनका अध्ययन करनेपर यह विदित होता है कि समस्त जीवन दो भागोंमें विभाजित है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। यद्यपि इन दोनों भागोंका उद्देश्य एक है; क्योंकि जीवन एक है; परन्तु उद्देश्य-पूर्तिके लिये साधनदृष्टिसे दो भागोंमें विभाजन हो सकता है।

प्रत्येक प्रवृत्तिका उद्गमस्थान देहाभिमान तथा विद्यमान राग है। प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें निवृत्तिका आना स्वाभाविक है; क्योंकि प्रवृत्तिसे प्राप्तशक्तिका व्यय होता है और निवृत्तिद्वारा पुनः शक्तिका संचय होता है। विद्यमान रागकी निवृत्तिमें ही प्रवृत्तिका सदुपयोग निहित है और नवीन रागकी उत्पत्ति न होने तथा प्रवृत्तिकी सामर्थ्य प्राप्त करनेके लिये ही निवृत्ति अपेक्षित है।

अब हमें अपनी प्रवृत्तियोंका निरीक्षण करना है कि हमारी प्रवृत्तियाँ सुखभोगकी आसक्ति तथा देहाभिमानको पुष्ट करनेमें हैं अथवा विद्यमान रागकी निवृत्तिमें। जिन प्रवृत्तियोंके द्वारा हम वस्तु, व्यक्ति आदिसे अपने सुख-सम्पादनकी आशा करते हैं, वे सभी देहाभिमानको पुष्ट करती हैं और हमें लोभ, मोह आदि दोषोंमें आवद्ध करती हैं। अतः ऐसी प्रवृत्तियोंके द्वारा प्रवृत्तिकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती, अपितु दोषोंकी ही वृद्धि होती है, जिससे हम जड़ता और शक्तिहीनतामें आवद्ध हो जाते हैं।

करती है और निवृत्ति हमें स्वाधीनता प्रदान कर अनन्तसे अभिन्न करती है, जिसमें वास्तविक जीवन है।

सर्व प्रकारके संघर्षका अन्त सर्वहितकारी प्रवृत्तिमें निहित है; क्योंकि सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्नेहकी एकता प्रदान करती है। प्रवृत्ति स्वरूपसे छोटी हो या बड़ी; परंतु उसके मूलमें यदि सर्वहितकारी भाव है तो वह विभु हो जाती है। वह विश्व-शन्तिकी स्थापनामें समर्थ है; क्योंकि स्नेहकी एकता वह काम नहीं करने देती जो नहीं करना चाहिये और वह स्वतः होने लगता है जो करना चाहिये। उसके होते ही जीवनमें व्यापकता आ जाती है। जिसके आते ही सब प्रकारकी आसक्तियोंका अन्त हो जाता है। आसक्तियोंका अन्त होते ही उस दिव्य चिन्मय प्रीतिका उदय होता है, जो अपनेहीमें अपने प्रीतमको मिलाकर नित-नव-रस प्रदान करती है, यही हमारी वास्तविक आवश्यकता है।

——

निष्कामतामें ही सफलता है

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि निष्कामता ही सफलताकी कुंजी है। निष्कामताके बिना निर्दोषता नहीं आती और दोषरहित हुए बिना हम अपने लक्ष्यको प्राप्त नहीं कर सकते। दोषोंकी आवश्यकता तो किसीको भी नहीं होती। सभीको अपना साथी निर्दोष चाहिए। इस दृष्टिसे निष्कामता जीवनकी वास्तविक आवश्यकता है।

अब विचार यह करना है कि निष्कामता प्राप्त करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये? तो कहना होगा कि निष्कामता उसे ही प्राप्त हो सकती है जो वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदिसे अपना मूल्य बढ़ा लेता है। यद्यपि कोई भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति ऐसी हो ही नहीं सकती जो हमारे दिये हुए महत्त्व एवं सहयोगके बिना हमपर शासन कर सके, परन्तु हम इस रहस्यको भूल जाते हैं; प्रत्युत वस्तु, अवस्था, परिस्थितियोंके आधारपर अपना मूल्य आँकने लगते हैं बस, हमारी यही भूल हमें निष्काम नहीं होने देती। हाँ, यह अवश्य है कि प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना है पर न तो उसकी दासतामें आबद्ध होना है और न किसी अप्राप्त परिस्थितिका आवाहन करना है; क्योंकि सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। कोई परिस्थिति किसी परिस्थितिकी अपेक्षा भले ही सुन्दर प्रतीत हो, परंतु वास्तविकताकी दृष्टिसे उनमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप है, साध्यरूप नहीं। अतः प्रत्येक परिस्थितिका महत्त्व उसके सदुपयोगमें है, किसी परिस्थितिविशेषमें नहीं। हमें प्राप्त

परिस्थितिका आदर करना चाहिये पर उससे ममता और उसमें जीवन-बुद्धि नहीं करनी चाहिये अपितु साधन-बुद्धि रखनी चाहिये। ऐसा करनेसे बड़ी ही सुगमतापूर्वक परिस्थितियोंसे अतीतके उस जीवनपर विश्वास हो जायगा, जो निष्कामता प्रदान करनेमें समर्थ है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके आदरपूर्वक सदुपयोगमें ही सभीका हित निहित है; परंतु कामना-अपूर्तिके भय और कामना-पूर्तिकी आसक्तिके कारण हम परिस्थितियोंमें भेद करने लगते हैं तथा प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगकी अपेक्षा परिस्थिति-परिवर्तनके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य वर्तमान परिस्थितिके सदुपयोगके लिये मिली थी, उसे अप्राप्त परिस्थितिकी प्राप्तिके प्रयासमें लगा देते हैं, जिससे प्राप्त परिस्थितिका भी सदुपयोग नहीं हो पाता और उत्कृष्ट परिस्थिति भी प्राप्त नहीं होती। प्राकृतिक नियमके अनुसार प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगसे ही उत्कृष्ट परिस्थिति अथवा परिस्थितियोंसे असंगता प्राप्त होती है, जो वास्तविक निष्कामता है।

अब यदि कोई यह कहे कि हम उस प्राकृतिक विधानका आदर कैसे करें जो कामना-अपूर्तिके दुःखमें हेतु है, तो कहना होगा कि कामना-अपूर्तिका दुःख कामना-पूर्तिके सुखकी दासतासे मुक्त करनेके लिये आया था, जिसे पाकर हम भयभीत हो गये। यह भूल गये कि कामना-पूर्तिके सुखसे अतीत भी एक जीवन है, जो कामना-पूर्तिकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टिसे प्राकृतिक न्यायमें हमारा हित ही निहित है। अतः उसका आदर करना अनिवार्य है।

भौतिक विज्ञानकी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु अनन्त है, उसमें कभी

नहीं है। फिर भी हमें यदि वस्तुएँ प्राप्त नहीं हैं तो समझना चाहिये कि हम वस्तुओंके अधिकारी नहीं हैं। प्रकृतिके विधानमें किसीसे राग-द्वेष नहीं है, उसमें तो सभीके प्रति समानता है। अतः जो वस्तुएँ हमारे बिना रह सकती हैं अथवा हमें अप्राप्त हैं, उनकी अप्राप्तिमें ही हमारा विकास निहित है। अब यदि कोई यह कहे कि वस्तुओंके बिना तो हमारा अस्तित्व ही नहीं रह सकता तो कहना होगा कि जो अस्तित्व वस्तुओंके आश्रित है वह क्या हमारा अस्तित्व है? कदापि नहीं। इस दृष्टिसे तो वस्तुओंका ही अस्तित्व सिद्ध होगा, हमारा नहीं। हमारा अस्तित्व तो तभी सिद्ध हो सकता है जब हम वस्तुओंसे अतीतके उस जीवनको प्राप्त-कर लें, जो निष्कामतासे ही प्राप्त हो सकता है। निष्कामता हमें प्राप्त वस्तुओंके सदुपयोगका और अप्राप्त वस्तुओंकी कामनाके त्यागका पाठ पढ़ाती है; न तो वस्तुओंके संग्रहकी प्रेरणा देती है और न अप्राप्त वस्तुओंके आवाहनकी ही। वस्तुओंका संग्रही तथा वस्तुओंका आवाहन करनेवाला निष्काम नहीं हो सकता। निष्कामता आ जानेपर प्राप्त वस्तुओंका सदुपयोग होने लगता है और आवश्यक वस्तुएँ प्रकृतिके विधानसे स्वतः मिलने लगती हैं। परन्तु कब? जब न तो वस्तुओंके अभावसे हम क्षुब्ध हों, न प्राप्त वस्तुओंमें हमारी ममता हो, न उनका दुरुपयोग हो और न वस्तुओंके आधारपर हम अपना अस्तित्व ही मानें। जिस प्रकार सूर्यके सम्मुख होते ही छाया हमारे पीछे दौड़ती है और सूर्यसे विमुख होनेपर हम छायाके पीछे दौड़ते हैं पर उसे पकड़ नहीं पाते, उसी प्रकार निष्कामतारूपी सूर्यके सम्मुख होते ही छायारूपी वस्तुएँ हमारे पीछे दौड़ती हैं और विमुख होते ही हम छायारूपी वतुस्ओंके पीछे दौड़ते हैं, पर उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते।

प्राप्त वस्तु, बल और विवेक किसी व्यक्तिकी निजी सम्पत्ति नहीं है, अपितु किसीकी देन है। अब यदि कोई यह कहे कि हमें जो कुछ मिला है वह हमारे ही कर्मका फल है तो कहना होगा कि कर्म करनेकी सामर्थ्य क्या आपकी अपनी है? यदि आपकी अपनी है तो आप किसी प्रकारका अभाव क्यों अनुभव करते हैं और प्रवृत्तिके अन्तमें शक्तिहीन क्यों होते हैं? शक्तिहीनताकी अनुभूति यह सिद्ध करती है कि सामर्थ्य किसी व्यक्तिकी अपनी नहीं है। वह उसीकी देन है जिसके प्रकाशसे समस्त विश्व प्रकाशित है। उसकी दी हुई सामर्थ्यको अपनी मान लेना कहाँतक न्यायसंगत है? हाँ, यह अवश्य है कि जिसने हमें सब कुछ दिया है उसने अपनेको गुप्त रखा है अर्थात् 'मैं देता हूँ' यह प्रकाशित नहीं किया। इतना ही नहीं, उसने अपनेको इतना छिपाया है कि जिसे देता है उसे वह मिली हुई वस्तु अपनी ही मालूम होती है, किसी औरकी नहीं। भला, जिसमें इतनी आत्मीयता है, इतना सौहार्द है, क्या हमने कभी एक वार भी वस्तुओंसे विमुख होकर उसकी ओर देखा?

जिसकी ओर हम एक वार भी नहीं देख सके, वह सर्वदा हमारी ओर देखता है। यदि ऐसा न होता तो असमर्थ होनेपर विना ही यत्नके सामर्थ्य कैसे मिलती? इस दृष्टिसे हमें निष्काम होकर मिली हुई सामर्थ्यका प्राप्त विवेकके प्रकाशमें उसीके नाते उपयोग करना है और उसी अनन्तकी ओर देखना है जो हमारी ओर सदैव देखता है। उसकी ओर देखते ही हम उसके हो जायँगे, जिसके होते ही सब प्रकारके अभावका अभाव हो जायगा और दिव्य चिन्मय जीवन प्राप्त होगा, जो हमारी वास्तविक आवश्यकता है।

पराश्रयका त्याग और सेवा

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि सब प्रकारके अभावका कारण एकमात्र पराश्रय है; क्योंकि परका आश्रय ही हमें जड़तामें आबद्ध करता है, सीमित बनाता है और अनेक प्रकारकी आसक्तियोंको जन्म देता है। इस दृष्टिसे पराश्रयका साधकके जीवनमें कोई स्थान नहीं है।

आसक्तियोंके रहते हुए प्रीतिका उदय नहीं होता। प्रीतिके बिना नित-नव-रसकी उपलब्धि नहीं होती। अपितु चित्तमें खिन्नता ही निवास करती है, जो हमें क्रोधी बनाकर कर्तव्यसे च्युत कर देती है। अतः किसी भी आसक्तिका साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

सीमित होते ही कामनाओंका उदय होता है, जो स्वाधीनताका अपहरण करनेमें हेतु है। स्वाधीनताका अपहरण होते ही हम जड़तामें आबद्ध होकर दिव्य चिन्मय जीवनसे विमुख हो जाते हैं। अतः पराश्रयका अन्त करनेके लिये हमें वर्तमानमें ही प्रयत्नशील होना चाहिये।

पराश्रयका अन्त करनेके लिये हमें सर्वप्रथम पर-आश्रयके भावको पर-सेवाकी सद्भावनामें परिवर्तित करना होगा; क्योंकि जिसकी सेवा करनेका सुअवसर मिल जाता है उसकी आसक्ति मिट जाती है और जिसमें आसक्ति नहीं रहती उससे सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। अतः पर-सेवाकी सद्भावना हमें परके आश्रयसे मुक्त करनेमें समर्थ है।

अब विचार यह करना है कि 'पर' का अर्थ क्या है, तो कहना होगा कि जिसका वियोग अनिवार्य हो वही 'पर' है। इस दृष्टिसे किसी अन्यकी तो बात ही क्या है, शरीर भी 'पर' के ही

अर्थमें आता है। अतः सर्वप्रथम हमें शरीरकी सेवा करनी है। यह तभी सम्भव होगा जब हम शरीरके अभिमानका त्याग करें। शरीरके अभिमानका त्याग करते ही निर्वासना आ जायगी। वासनाओंका अन्त होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जायँगे। फिर समस्त विश्वकी सेवा स्वतः होने लगेगी; क्योंकि सेवा उन्हीं साधनोंसे की जा सकती है जिनमें शुद्धता हो। इन्द्रियोंकी शुद्धतासे सदाचारकी प्राप्ति और समाजके चरित्रका निर्माण होगा। मनकी शुद्धतासे अशुद्ध संकल्प मिट जायँगे और निर्विकल्पता आ जायगी। निर्विकल्पता आते ही मन विभु हो जायगा जिससे समस्त विश्वकी मूक सेवा होने लगेगी। बुद्धिकी शुद्धता विषमताका विनाशकर देगी, जिससे भिन्नता मिट जायगी और एकता आ जायगी, जो चिर शांतिकी स्थापना करनेमें समर्थ है और जिसमें सब प्रकारके विकासकी सामर्थ्य निहित है। इस दृष्टिसे शरीरकी सेवामें ही समस्त विश्वकी सेवा विद्यमान है।

सेवा वही कर सकता है जो किसीका बुरा न चाहे। जो किसीका बुरा नहीं चाहता वह अपनेसे दुखियोंको देखकर करुणासे द्रवित और सुखियोंको देखकर प्रसन्न होने लगता है। अथवा यों कहो कि करुणा और प्रसन्नता उसका स्वभाव बन जाता है। करुणा सुख-भोगकी आसक्तिको और प्रसन्नता सुख-भोगकी कामनाको खा लेती है। कामना और आसक्तिके मिटते ही बाह्यसेवा भी स्वतः होने लगती है अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और सम्पादित सामर्थ्य तथा योग्यतासे रोगी, बालक, विरक्त (जो सत्यके अन्वेषणमें लगे हैं) की सेवा स्वाभाविक होने लगती है, क्योंकि ये तीनों ही सेवाके पात्र हैं। यह भलीभाँति जान लेना चाहिये कि सेवाका अन्त

उपभोगमें नहीं अपितु त्यागमें है और त्यागका अन्त है केवल शान्ति और प्रेममें। यह नियम है कि जिन साधनोंसे हम सेवा करते हैं उनकी ममता मिट जाती है और जिनकी हम सेवा करते हैं उनमें सौन्दर्य आ जाता है। ममतारहित होनेसे हमें स्वाधीनता प्राप्त होती है और हमारे (अर्थात् सभी व्यक्तियोंके) निर्माणसे सुन्दर समाजका निर्माण स्वतः हो जाता है। इस दृष्टिसे 'पर' की सेवामें अपना कल्याण और सुन्दर समाजका निर्माण निहित है। एवं 'पर' के आश्रयमें अपना और समाजका भी अहित है; क्योंकि जिससे हम ममता कर लेते हैं वह वस्तु और व्यक्ति दोनों ही विनाशको प्राप्त होते हैं। वस्तुकी ममता हमें लोभी बनाकर संग्रहकी इच्छा उत्पन्न कर देती है एवं व्यक्तियोंकी ममता हमें तो मोही बनाती है और उन्हें पराश्रित कर देती है जिनमें हमारा मोह होता है। लोभकी वृद्धिने ही वस्तुओंका अभाव और मोहकी वृद्धिने ही परस्परमें संघर्ष उत्पन्न कर दिया है, जो विनाशका मूल है।

वस्तुओंका उपयोग व्यक्तियोंकी सेवामें और व्यक्तियोंकी सेवा व्यक्तियोंको विवेकयुक्त बनानेमें निहित है; क्योंकि विवेकयुक्त जीवनमें ही अपना कल्याण तथा सबका हित विद्यमान है।

पराश्रय मृत्युकी ओर एवं उसका त्याग अमरत्वकी ओर ले जाता है। पराश्रय जड़तामें आबद्ध करता है और उसका त्याग चिन्मय जीवनसे अभिन्न कर देता है तथा लोभ और मोहका अन्त कर निर्लोभता, निर्मोहता एवं प्रेम प्रदान करता है। निर्लोभतासे दरिद्रता और निर्मोहतासे अविवेक मिट जाता है तथा प्रेमसे अगाध, अनन्त रसकी उपलब्धि होती है, जो वास्तविक जीवन है।

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका विवेचन

वस्तुस्थितिपर विचार करनेसे ये दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं। प्रथम यह कि क्या हम वही कर रहे हैं जो हमें करना चाहिये अथवा वह भी करते हैं जो नहीं करना चाहिये? और दूसरा यह कि जो स्वतः हो रहा है उसका हमपर क्या प्रभाव है? अब विचार यह करना है कि हम जो कुछ करते हैं उसकी उत्पत्तिका कारण क्या है? तो कहना होगा कि कुछ कार्य तो हम ऐसे करते हैं जिनका कारण अपनेको देह मान लेना है और कुछ कार्य ऐसे होते हैं कि जिनका सम्बन्ध बाह्य सम्पर्कसे है अथवा यों कहो कि करनेका उदय हमारी मान्यतामें तथा हमारे सम्बन्धोंमें निहित है। हाँ, एक बात और है कुछ क्रियाएँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें हम देहजनित कह सकते हैं। वे क्रियाएँ कर्म नहीं, प्रत्युत देहका स्वभाव हैं। देहके स्वभावसे अतीतकी ओर जानेके लिये कर्त्तव्यका विधान बना है; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो विवेककी कोई अपेक्षा ही न होती। विवेकयुक्त जीवनमें ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या करने योग्य है और क्या नहीं करने योग्य है? विवेकरहित जीवनमें तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। जहाँ यह प्रश्न ही नहीं है कि हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं, उस जीवनमें तो केवल स्वतः आनेवाले सुख-दुःखका भोग है—सदुपयोग अथवा दुरुपयोग नहीं।

इस दृष्टिसे अब हमें अपनेद्वारा होनेवाली सभी चेष्टाओंको निज विवेकके प्रकाशमें देखना है कि क्या हम वही करते हैं जो करने

योग्य है, अथवा निज ज्ञानका अनादर करके वह भी कर बैठते हैं जो नहीं करना चाहिये। जो नहीं करना चाहिये उसको करनेसे अपना तथा दूसरोंका अहित ही होता है।

कर्तृत्वके स्थलपर एक बात और विचारणीय है, वह यह कि हम जो कुछ करते हैं उसका परिणाम हमींतक सीमित नहीं रहता अपितु समस्त विश्वमें फैलता है; क्योंकि कर्म बिना संगठनके नहीं होता, अतः संगठनसे उत्पन्न होनेवाले कर्मका परिणाम व्यापक होना स्वाभाविक है। इस दृष्टिसे हम जो कुछ करें वह इस उद्देश्यको सामने रखकर करना चाहिये कि हमारे द्वारा दूसरोंका अहित तो नहीं हो रहा है। यदि हमारे द्वारा होनेवाले कर्मोंसे दूसरोंका अहित हो रहा है तो हमारा भी अहित निश्चित है; क्योंकि दूसरोंके प्रति जो कुछ किया जाता है वह कई गुना अधिक होकर हमारे प्रति स्वतः होने लगता है। अतः इस कर्म-विज्ञानकी दृष्टिसे हमें वह नहीं करना चाहिये जिसमें किसी अन्यका अहित हो, अपितु वह अवश्य करना चाहिये जिसमें सभीका हित हो।

अब यदि कोई यह पूछे कि हम यह कैसे जानें कि किसमें दूसरेका अहित है तो इसका निर्णय करनेके लिये हमें एक ही बातपर ध्यान देना चाहिये कि हम जो कुछ दूसरोंके प्रति कर रहे हैं क्या वही दूसरोंके द्वारा अपने प्रति किये जानेकी आशा करते हैं? दूसरोंके द्वारा अपने प्रति हम वही आशा करते हैं, जो करनेके योग्य है; क्योंकि हम अपने प्रति दूसरोंसे न्याय, प्रेम, उदारता, आदर, करुणा एवं क्षमा आदि व्यवहारकी ही आशा रखते हैं। जो अपने प्रति चाहते हैं, वही हमें दूसरोंके प्रति करना है। ऐसा करनेसे करना

होनेमें विलीन हो जाता है। फिर हम जो हो रहा है, उसे देख लगते हैं।

यह सभीको मान्य होगा कि जो देख रहा है, वह स्वयं नह कर रहा है अर्थात् कर्त्ता और द्रष्टा एक नहीं होते। हाँ, यह अवश्य जानना है कि जो देख रहा है, उसपर देखनेका प्रभाव क्या है देखनेवाला अपनेको कुछ मानकर देख रहा है अथवा सभ मान्यताओंसे रहित होकर देख रहा है? अब विचार यह करना है कि मान्यताओंमें आबद्ध होकर देखना क्या है और सभी मान्यताओंसे रहित होकर देखना क्या है? तो कहना होगा कि अपनेको इन्द्रियाँ मानकर हम विषयोंको देखते हैं, अपनेको मन मानकर इन्द्रियोंको देखते हैं, बुद्धि होकर मनको देखते हैं और इन सबके अभिमानी होकर बुद्धिको देखते हैं तथा सभी मान्यताओंसे रहित होकर उस अभिमानीको देखते हैं, जो सीमित है।

जब हम अपनेको कुछ मानकर देखते हैं, तब देखे हुएमें हमारी आसक्ति हो जाती है अथवा अरुचि। अरुचि और आसक्तिके कारण हम उस देखे हुएमें बँध जाते हैं, फिर जो कुछ देखनेमें आता है, उसकी वास्तविकता हम नहीं जान पाते। पर जब विवेकदृष्टिसे देखते हैं, तब जो कुछ हमें दिखायी देता है, वह सब या तो अनित्य प्रतीत होता है अथवा केवल अभाव-ही-अभाव या दुःख-ही-दुःख।

इन्द्रियाँ विषयोंकी द्रष्टा हैं, मन इन्द्रियोंका द्रष्टा है, बुद्धि मनकी द्रष्टा है और अभिमानी बुद्धिका भी द्रष्टा है। जबतक हम उसे ही द्रष्टा मान लेते हैं, जो दृश्य है तबतक जो सबका द्रष्टा है उसको, अथवा यों कहो कि जो सभी मान्यताओंसे अतीत द्रष्टा है उसको, नहीं जान पाते हैं।

इन्द्रियोंकी दृष्टिसे समस्त विषय सुखद तथा सत्य प्रतीत होते हैं। जबतक इन्द्रियदृष्टिका प्रभाव मनपर रहता है तबतक मन इन्द्रियोंके अधीन होकर विषयोंकी ओर गतिशील रहता है और जब मनपर बुद्धिदृष्टिका प्रभाव होने लगता है, तब इन्द्रियोंका प्रभाव मिटने लगता है; क्योंकि जो वस्तु इन्द्रियदृष्टिसे सत्य और सुन्दर मालूम होती है, वही वस्तु बुद्धि-दृष्टिसे असत्य और असुन्दर मालूम होती है। बुद्धि-दृष्टिका प्रभाव होते ही मन विषयोंसे विमुख हो जाता है। उसके विमुख होते ही इन्द्रियाँ स्वतः विषयोंसे विमुख होकर मनमें विलीन हो जाती हैं और मन बुद्धिमें विलीन हो जाता है। उसके विलीन होते ही बुद्धि सम हो जाती है। फिर उस समताका जो द्रष्टा है, वह किसी मान्यतामें आबद्ध नहीं हो सकता। उस द्रष्टाकी दृष्टिमें सृष्टि-जैसी कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि समस्त सृष्टि तो बुद्धिके सम होते ही विलीन हो जाती है; केवल समता रह जाती है। उस समताका प्रकाशन जो नित्य ज्ञान है उसमें सृष्टि-जैसी कोई वस्तु ही नहीं प्रतीत होती अथवा यों कहो कि उस ज्ञानसे अभिन्न होनेपर सब प्रकारके प्रभावोंका अभाव हो जाता है अर्थात् कामनाओंकी निवृत्ति तथा जिज्ञासाकी पूर्ति हो जाती है, जो वास्तवमें जीवन है।

इन्द्रियदृष्टिकी सत्यताका प्रभाव राग उत्पन्न करता है और राग भोगमें प्रवृत्त करता है; किंतु बुद्धि-दृष्टिकी सत्यता रागको वैराग्यमें और भोगको योगमें परिवर्तित करनेमें समर्थ है। जब राग वैराग्यमें और भोग योगमें बदल जाता है, तब द्रष्टामें मान्यताओंसे अतीत होकर देखनेकी योग्यता आ जाती है। उससे पूर्व हम जो कुछ देखते

हैं, वह किसी-न-किसी मान्यतामें आबद्ध होकर ही देखते हैं, अर्थात् उस समय हमारी दृष्टि सीमित रहती है, दूरदर्शिनी नहीं रहती। इस कारण जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही नहीं जान पाते, अतः हम अनेक प्रकारके अभावोंमें आबद्ध रहते हैं।

यह तो सभीको मान्य होगा कि कर्तृत्वकालमें भोग हो सकता है, देखना नहीं; क्योंकि जब हम कुछ करते हैं, तब देखते नहीं और जब देखते हैं, तब करते नहीं। इस दृष्टिसे विषयोंके उपभोगकालमें विषयोंको देख नहीं पाते और जब विषयोंको देखते हैं, तब उनका उपभोग नहीं कर सकते। अतः देखना तभी सम्भव हो सकता है, जब उपभोगकाल न हो। भोगप्रवृत्ति भोगका देखना नहीं है, अपितु भोगके आरम्भका सुख और परिणामका दुःख भोगना है। सुख-दुःखका भोग करते हुए हम जो स्वतः हो रहा है उसे यथार्थ देख नहीं सकते। अतः जो हो रहा है उसको देखनेके लिये हमें रागरहित दृष्टिकी अपेक्षा है, जो विवेकसिद्ध है।

जो हो रहा है उसके दो रूप दिखायी देते हैं—एक तो सीमित सौन्दर्य और दूसरा प्रत्येक वस्तु आदिका सतत परिवर्तन। वस्तु आदिके सौन्दर्यको देखकर हमें उस अनन्त सौन्दर्यकी महिमाका अनुभव स्वतः होने लगता है। जिस प्रकार किसी सुन्दर वाटिकाको देखकर वाटिकाके मालीकी स्मृति स्वतः जाग्रत् होती है, उसी प्रकार प्रत्येक रचनाको देखकर संसाररूपी वाटिकाके मालीकी स्मृति जाग्रत् होती है; क्योंकि किसीकी रचनाका दर्शन रचयिताकी महिमाको प्रकाशित करता है। इस दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु हमें उस अनन्तकी ओर ले जानेमें हेतु बन जाती है और हम उसकी

रचना देख-देखकर नित-नव प्रसन्नताका अनुभव करने लगते हैं। यहाँतक कि प्रत्येक रचनामें उस कलाकारका ही दर्शन होने लगता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह सब उस अनन्तकी लीला ही है, और कुछ नहीं। अनन्तकी लीला भी अनन्त ही है और उसका दर्शन भी अनन्त है। लीलाका बाह्य स्वरूप भले ही सीमित तथा परिवर्तनशील हो पर उसके मूलमें तो अनन्त नित्य चिन्मय तत्त्व ही विद्यमान है। उनकी अनुपम लीलाका दर्शन उनकी चिन्मय दिव्य प्रीति जाग्रत् करनेमें समर्थ है। अतः जो हो रहा है उसका प्रभाव प्रेमी बनाकर प्रेमास्पदसे अभिन्न करनेमें हेतु है।

अब रहा वस्तु आदिमें परिवर्तनके दर्शनका प्रभाव—परिवर्तनका दर्शन होते ही स्वभावतः अविनाशीकी जिज्ञासा जाग्रत् होती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों कामनाएँ स्वतः मिटने लगती हैं। कामनाओंका अन्त होते ही जिज्ञासाकी पूर्ति हो जाती है और जिज्ञासाकी पूर्तिमें ही अमर जीवन निहित है।

जो हो रहा है उससे तो हमें प्रेम तथा जीवनकी ही उपलब्धि होती है। इस दृष्टिसे जो हो रहा है उसमें सभीका हित विद्यमान है। अतः होनेमें प्रसन्न तथा करनेमें सावधान रहनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये।

अब यदि कोई यह कहे कि वस्तु आदिके सौन्दर्यको देखकर हमारे जीवनमें कामकी उत्पत्ति होती है और दुःख-मृत्यु आदिको देखकर भय उत्पन्न होता है, तो कहना होगा कि हमारे देखनेमें दोष है। हम सीमित सौन्दर्य देखकर ही उसमें आबद्ध हो जाते हैं और उसका भोग करने लगते हैं, अनन्त और नित्य सौन्दर्यकी लालसाको

साधन-तत्त्व

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्तव्यका ज्ञान प्रत्येक कर्तामें निहित है अर्थात् साधन-तत्त्व साधकमें विद्यमान है। जब साधक अपनेमें विद्यमान साधन-तत्त्वका आदर नहीं करता, तब उसे बाहरसे साधन-निर्माणकी अपेक्षा होती है। यद्यपि साधन-तत्त्व ही गुरु-तत्त्व है, जो साधकमें जन्मसिद्ध है, तथापि इस प्राप्त गुरु-तत्त्वका अनादर करनेके कारण किसी अप्राप्त गुरुकी अपेक्षा हो जाती है। इसका अर्थ किसी बाह्य गुरुका अनादर नहीं है, अपितु विद्यमान गुरुका अनादर न किया जाय, उसीके लिये यह कहना है कि अपने प्राप्त गुरुका आदर करो। जो साधक प्राप्त गुरुका आदर करता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधन-तत्त्वसे अभिन्न होकर साध्य-तत्त्वको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि अपने प्रति जितनी प्रियता होती है उससे अधिक किसी अन्यके प्रति नहीं होती और अपनी अनुभूतिके प्रति जितना सद्भाव तथा निस्संदेहता होती है, उतनी अन्यके प्रति नहीं होती। इस दृष्टिसे अपनी अनुभूतिके आधारपर जितनी सुगमतापूर्वक साधन-निर्माण तथा साधन-परायणता हो सकती है, उतनी किसी अन्यकी अनुभूतिद्वारा नहीं। इतना ही नहीं, जिस साधनके समझनेकी तथा करनेकी सामर्थ्य साधकमें बीज-रूपसे विद्यमान नहीं होती वह साधन कोई भी किसी भी साधकको न तो समझा सकता है और न उससे करा ही सकता है। जिस प्रकार नेत्रको कोई शब्द नहीं सुना सकता और श्रोत्रको कोई रूप नहीं दिखा सकता, उसी प्रकार जिस साधनकी सामर्थ्य साधकमें नहीं है, उसको कोई बाह्य गुरु नहीं करा सकता। जिस बीजमें

उपजनेकी सामर्थ्य होती है; उसीको पृथ्वी, जल, वायु आदि उपजा सकते हैं। अतः साधकमें विद्यमान साधनाको ही बाह्य गुरु भी विकसित करनेमें सहयोग दे सकते हैं।

अपने प्राप्त विवेकके आधारपर यदि साधन निर्माण करना है तो सर्वप्रथम अपने प्राप्त ज्ञानसे अपने दोषोंको जानना होगा। जिस ज्ञानसे दोषोंका ज्ञान होगा उसी ज्ञानमें दोषोंके कारणका ज्ञान भी विद्यमान है और उस कारणके निवारणका भी। अपने दोषोंको जान लेनेमें कभी धोखा नहीं हो सकता, अपितु अपने दोषोंका ज्ञान जितना अपनेको होता है उतना अन्यको हो ही नहीं सकता। कारण कि दूसरोंके सामने तो हम इन्द्रियोंके द्वारा ही दोषोंका वर्णन करेंगे। मनमें जितनी सामर्थ्य है उतनी इन्द्रियोंमें नहीं और बुद्धिमें जितनी सामर्थ्य है उतनी मनमें नहीं। अतः बुद्धिकी सारी बातें मनमें नहीं आ पातीं और मनकी सारी बातें इन्द्रियोंमें नहीं आ पातीं। इसलिये इन्द्रियोंके द्वारा प्रकाशित किया जानेवाला दोष पूरा दोष नहीं हो सकता। जबतक दोषका पूरा ज्ञान न हो तबतक कारणका ज्ञान और उसके निवारणका ज्ञान सम्भव नहीं। अतः दोष देखने और निवारण करनेके लिये साधकको अपने ही ज्ञानको अपना गुरु बना लेना चाहिये।

यह नियम है कि जब प्राणी अपनी दृष्टिमें अपनेको आदरके योग्य नहीं पाता अर्थात् दोषी पाता है, तब उसमें एक गहरी वेदना जाग्रत् होती है, जो दोषोंको मिटानेमें समर्थ है। कारण कि दोषोंसे रस लेनेसे ही दोष सुरक्षित रहते हैं। जब दोषोंसे वेदना उत्पन्न होने लगती है, तब वे स्वतः मिट जाते हैं, अथवा यों कहो कि साधकमें दोष मिटानेकी सामर्थ्य आ जाती है।

इस दृष्टिसे अपने दोषोंका ज्ञान और उनके होनेकी वेदना ही निर्दोष होनेके साधन हैं। हाँ, यह अवश्य है कि अपने ज्ञानसे जो अपना गुण देखेगा वह साधन-निर्माण नहीं कर सकेगा; क्योंकि गुण देखनेसे गुणोंका अभिमान होगा, जो सभी दोषोंका मूल है। अतः प्राप्त गुरुका आदर वही कर सकता है जो अपना गुण नहीं देखता, अपितु दोष देखता है।

दोषका ज्ञान जिससे होता है उस ज्ञानका कभी नाश नहीं होता। केवल प्रमादवश साधक प्राप्त ज्ञानका अनादर करने लगता है। ज्ञानका अनादर ज्ञानका अभाव नहीं है, अपितु अल्प ज्ञान है, जो सभी दोषोंका मूल है।

साधन-तत्त्व ही गुरुतत्त्व है, जो सर्वदा साधकमें विद्यमान है। इस दृष्टिसे साधक, साधन और साध्यमें जातीय एवं स्वरूपकी एकता है; क्योंकि तीनों एक ही धातुसे निर्मित हैं। कारण कि साधन-तत्त्व साध्यका स्वभाव और साधकका जीवन है। अतः साधक साधन होकर साध्यसे अभिन्न हो सकता है। साधककी साधन-तत्त्वसे अभिन्नता ही वास्तविक गुरुकी प्राप्ति है, जो जीवनमें एक बार ही होती है और जिसके होते ही गुरु और शिष्य अभिन्न हो जाते हैं। यही वास्तविक गुरुसेवा तथा गुरुभक्ति है।

अब यदि कोई यह कहे कि जब साधन-तत्त्व साधकमें विद्यमान है, तब साधकको प्रमाद क्यों हो जाता है? तो कहना होगा कि निज ज्ञानके अनादरसे। निज ज्ञानका अनादर होता है बाह्य ज्ञानकी आशा तथा विश्वाससे। इन्द्रियजन्य ज्ञान बुद्धिजन्य ज्ञानकी अपेक्षा बाह्य है और बुद्धिजन्य ज्ञान निज ज्ञानकी अपेक्षा बाह्य

है। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञानका आदर तथा उसपर विश्वास न किया होता तो किसी प्रकारके रागकी उत्पत्ति ही नहीं हुई होती। यदि रागकी उत्पत्ति न होती तो किसी दोषका जन्म ही नहीं होता। यदि बुद्धिके ज्ञानसे इन्द्रियोंके ज्ञानपर अविश्वास कर लिया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग वैराग्यमें बदल सकता है; क्योंकि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान जिस वस्तुमें सत्यता तथा सुन्दरताका दर्शन कराता है, जिससे कि वस्तुओंके रागकी उत्पत्ति हो जाती है, बुद्धिका ज्ञान उसी वस्तुमें मलिनता तथा क्षणभङ्गुरताका दर्शन कराता है, जो रागको वैराग्यमें परिवर्तित करनेमें समर्थ है। जब राग वैराग्यमें बदल जाता है, तब भोग योगमें परिणत हो जाता है अथवा यों कहो कि इन्द्रियाँ विषयोंसे विमुख होकर मनमें विलीन हो जाती हैं और मन निस्संकल्प होकर बुद्धिमें विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धिके सम होते ही निज ज्ञानका प्रकाश बाह्य ज्ञानको अपनेमें विलीन कर लेता है। फिर राग-विरागरहित अलौकिक दिव्य-जीवनसे अभिन्नता हो जाती है। इस दृष्टिसे साधक बाह्य ज्ञानसे विमुख होकर निज ज्ञानका आदर करके सुगमतापूर्वक साधन होकर साध्यसे अभिन्न हो सकता है।

साधन-तत्त्व साध्यसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तु है; क्योंकि साध्य तो प्रमादका प्रकाशक है, नाशक नहीं; किंतु साधन-तत्त्व प्रमादको खाकर साधकको साध्यसे अभिन्न भी कर देता है। कारण कि सत् असत्का नाशक नहीं होता अपितु प्रकाशक होता है, किंतु सत्की लालसा असत्को खाकर सत्से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टिसे गुरुतत्त्व साध्यतत्त्वसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तु है।

यदि किसी कारणवश साधक अपने इन्द्रिय-ज्ञानपर बुद्धिज्ञान-द्वारा विजयी न हो सके तो ऐसी दशामें साधकोंको परस्पर मिलकर साधननिर्माणके लिये विचार-विनिमय करना चाहिये। जिस प्रकार दो दीपक एक दूसरेके नीचेका अन्धकार मिटानेमें समर्थ हैं, उसी प्रकार पारस्परिक विचार-विनिमयद्वारा सुगमतापूर्वक साधननिर्माण हो सकता है। यह तभी सम्भव होगा जब परस्परमें श्रद्धा, विश्वास तथा स्नेहकी एकता हो और निस्संकोच होकर अपनी दशा एक दूसरेसे कह सकें। इसीका नाम बाह्य सत्सङ्ग है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें तो ऐसे साथी ही नहीं मिलते कि जिनके साथ विचार-विनिमय कर सकें। ऐसी दशामें जिस किसी सद्ग्रन्थपर अपना विश्वास हो, उसके प्रकाशमें अपने दोष देखें और उनके निवारणके लिये साधनका निर्माण करें। यदि किसी सद्ग्रन्थपर भी विश्वास न हो तो केवल साधननिर्माणकी तीव्र लालसा जाग्रत् करें। ज्यों-ज्यों लालसा सबल तथा स्थायी होती जायगी त्यों-त्यों साधननिर्माणकी योग्यता अथवा अनुकूल परिस्थिति उस अनन्तकी अहैतुकी कृपासे स्वतः प्राप्त होती जायगी; क्योंकि कर्तव्य-ज्ञानके लिये विवेकके स्वरूपमें जिसने गुरु प्रदान किया है, वही सत्सङ्ग एवं सद्ग्रन्थके स्वरूपमें भी गुरु प्रदान कर सकता है।

गुरुकी प्राप्तिमें एकमात्र गुरुकी आवश्यकता ही हेतु है। अतः गुरुकी आवश्यकता गुरुसे मिला देती है, यह निर्विवाद सत्य है। इस दृष्टिसे प्रत्येक साधक साधननिर्माण करके उस साध्यसे अभिन्न होनेमें सर्वदा स्वतन्त्र है, जो वास्तविक जीवन है।

———

वर्तमान जीवनका सदुपयोग

ीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि
न परिवर्तनशील जीवनके सदुपयोगमें ही नित्य जीवन और
योगमें ही मृत्यु निहित है। यद्यपि जन्म और मृत्यु दोनों एक
रिवर्तनशील जीवनकी दो अवस्थाएँ हैं, क्योंकि जन्मसे ही
आरम्भ हो जाती है और मृत्युके अन्तमें जन्म स्वाभाविक
परंतु यदि वर्तमान जीवनको साधनयुक्त बना दिया जाय तो
से पूर्व ही अमरत्वकी प्राप्ति हो सकती है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान जीवनका सदुपयोग क्या
तो कहना होगा कि अपने आप आये हुए सुख-दुःखका सदुपयोग
र्तमान जीवनका सदुपयोग है। सुखका सदुपयोग उदारतामें और
का विरक्त होनेमें निहित है। उदारता सुख-भोगकी आसक्ति-
और विरक्ति सुख-भोगकी कामनाको खा लेती है। उदारताका
दूसरोंके दुःखसे दुखी होकर प्राप्त सुखका सद्व्यय करना है
विरक्तिका अर्थ इन्द्रियोंके विषयोंसे अरुचिका जाग्रत् होना
विषयोंकी अरुचि अमरत्वकी जिज्ञासा जाग्रत् करती है।
-ज्यों जिज्ञासा सबल और स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों
ेच्छाएँ स्वतः जिज्ञासामें विलीन होती जाती हैं। जिस कालमें
ेच्छाओंका सर्वांशमें अन्त हो जाता है, उसी कालमें जिज्ञासा
ः पूरी हो जाती है अर्थात् अमरत्वकी प्राप्ति हो जाती है।

जीवनका सदुपयोग तभी हो सकता है जब वर्तमान जीवनमें ही अर्थात् प्राणोंके रहते हुए ही मृत्युका अनुभव हो जाय। यह तभी सम्भव होगा जब निज विवेकके प्रकाशमें परिवर्तनशील जीवनका अध्ययन किया जाय। यह सभीको मान्य होगा कि प्रत्येक वस्तु, अवस्था और परिस्थिति निरन्तर बदल रही है। उसमें स्थायित्व मानना निज विवेकका अनादर है। जिसे साधारण दृष्टिसे स्थिति कहते हैं वह वास्तवमें परिवर्तनका क्रम है, और कुछ नहीं; अथवा यों कहो कि समस्त वस्तुएँ अमरत्वकी ओर दौड़ रही हैं, क्योंकि परिवर्तनके ज्ञानमें ही अपरिवर्तनकी लालसा विद्यमान है। उस लालसाकी पूर्ति वर्तमानमें हो सकती है, क्योंकि जो उत्पत्ति-विनाश-रहित है उससे देश-कालकी दूरी नहीं है और जिससे देश-कालकी दूरी नहीं है, वह वर्तमानमें ही प्राप्त हो सकता है।

परिवर्तनशील जीवनकी आशामें आबद्ध प्राणी न तो वर्तमान जीवनका सदुपयोग कर पाता है, न अमरत्वसे अभिन्न हो सकता है और न मृत्युसे ही बच सकता है। अतः परिवर्तनशील जीवनसे निराश होकर साधकको वर्तमान जीवनका सदुपयोग करनेके तथा अमरत्वकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील होना चाहिए, क्योंकि अमरत्वसे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है। जिससे स्वरूपकी एकता है उसकी प्राप्ति अनिवार्य है, जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है उससे निराश होना प्रमाद है और जिसमें सतत परिवर्तन है उसकी आशा करना भूल है।

परिवर्तनशील जीवनसे निराश होते ही जीवनहीमें मृत्युका अनुभव हो जाता है। साधक सब ओरसे विमुख होकर अपनेहीमें अपने वास्तविक जीवनसे अभिन्न हो अमर हो जाता है। फिर

शरीर आदि प्रत्येक वस्तु अपनेसे स्पष्ट अलग अनुभव होती है। इतना ही नहीं, कर्म, चिन्तन, स्थिति आदि सभी अवस्थाओंसे असंगता हो जाती है और जड़ताका अन्त हो जाता है अथवा यों कहो कि दिव्य चिन्मय जीवनसे अभिन्नता हो जाती है।

उत्पत्ति-विनाशका तो एक क्रम है, जो धीरे-धीरे होता रहता है; परंतु अमरत्वसे अभिन्नता वर्तमानहीमें हो जाती है; क्योंकि वह सर्वकालमें ज्यों-का-त्यों है अथवा यों कहो कि कालसे अतीत है। जीवनहीमें मृत्युका अनुभव और अमरत्वकी प्राप्ति युगपत् होती है, पर जीवनहीमें मृत्युका अनुभव तब हो सकता है, जब शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभीसे सम्बन्धविच्छेद कर दिया जाय, जो विवेकसिद्ध हैं। विवेक अभ्यास नहीं है, अपितु निज ज्ञानका आदर है। इस कारण वर्तमानमें ही फल देता है।

अब यदि कोई यह कहे कि शरीर आदिसे सम्बन्धविच्छेद होनेपर क्या वर्तमान कार्य हो सकेगा? तो कहना होगा कि सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही कार्य सुन्दरतापूर्वक हो सकता है, क्योंकि सम्बन्धविच्छेद होनेसे अनासक्ति आ जाती है, जो सभी दोषोंको खा लेती है अथवा यों कहो कि इससे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जाते हैं। इनके शुद्ध होनेसे समस्त व्यवहार पवित्र तथा सुन्दर होने लगते हैं, क्योंकि अशुद्धि ही कर्तव्यमें दोष उत्पन्न करती है। शुद्धि तो कर्तव्यनिष्ठ बनाती है। इस दृष्टिसे अमरत्वकी प्राप्ति तथा वर्तमान जीवनका सदुपयोग ये दोनों जीवनमें ही मृत्युका अनुभव करनेमें निहित हैं।

अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि जीवनमें ही मृत्युका अनुभव

कैसे किया जाय ? तो इस समस्याको हल करनेके लिये साधकको सर्वप्रथम जीवन और मृत्युके स्वरूपको जानना होगा। वर्तमान जीवन क्या है ? जीवनशक्ति, प्राण और इच्छाओंका समूह है। मृत्यु क्या है ? प्राणशक्तिका व्यय हो जाना और इच्छाओंका शेष रह जाना। जीवनमें ही मृत्युका अनुभव करनेके लिये साधकको प्राणोंके रहते हुए ही इच्छाओंका अन्त करना होगा। इच्छाओंका अन्त होते ही देहाभिमान गल जाता है। फिर सभी अवस्थाओंसे अतीत जो सभी अवस्थाओंका प्रकाशक है, उस स्वयं-प्रकाश नित्य जीवनसे अभिन्नता हो जाती है; अथवा यों कहो कि शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको उसके समर्पित कर देना है, जो सबका प्रकाशक है, जिससे सभी सत्ता पाते हैं, जो सभीका सब कुछ है और सबसे अतीत भी है। उसका सम्बन्ध, उसकी जिज्ञासा तथा उसकी स्मृति और प्रीतिके उदय होनेपर ही जीवनमें मृत्युका अनुभव हो सकता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध अन्य सम्बन्धोंको खा लेता है, उसकी जिज्ञासा भोगेच्छाओंको भस्म कर देती है, उसकी स्मृति अन्यकी विस्मृति करानेमें समर्थ है और उसकी प्रीति उससे दूरी तथा भेद मिटानेमें हेतु है अथवा यों कहो कि अनन्तकी प्रीति अनन्तसे अभिन्न कर देती है।

जीवनमें ही मृत्युका अनुभव किये बिना कोई भी योगी, विवेकी और प्रेमी नहीं हो सकता, क्योंकि योगी होनेके लिये भी भोग-वासनाओंका अन्त करना होगा और भोग-वासनाओंका अन्त करनेके लिये अपनेको तीनों शरीरोंसे अलग अनुभव करना होगा। इस दृष्टिसे योगकी सिद्धिके लिये भी जीवनमें ही मृत्युका अनुभव अनिवार्य

है। विवेकी होनेके लिये भी साधकको समस्त दृश्यसे अपनेको विमुख करना है अर्थात् दृष्टिको दृश्यसे विमुख कर अमरत्वसे अभिन्न करना है। अतः उसके लिये भी निराधार होकर जीवनहीमें मृत्यु स्वीकार करना अनिवार्य है। इसी प्रकार प्रेमी होनेके लिये भी जीते-जी ही मरना होगा, क्योंकि प्रेमी वही हो सकता है जो सब प्रकारकी चाहसे रहित हो और अपना सर्वस्व अपने प्रेमास्पदको बिना किसी शर्तके समर्पित कर दे।

अब यदि कोई यह कहे कि योगी, विवेकी और प्रेमी होनेके लिये तो जीते-जी मरनेकी बात है, पर समाजसेवाके लिये तो जीवनमें मृत्युका अनुभव आवश्यक नहीं है। तो कहना होगा कि वास्तविक सेवाके लिये भी जीवनमें ही मृत्युका अनुभव करना होगा, क्योंकि सेवा त्यागकी भूमि तथा प्रेमकी जननी है। सेवा वही कर सकेगा जो अपने सेव्यके मनकी बात पूरी कर सके और उसके बदलेमें किसी प्रकारकी आशा न करे। दूसरेके मनकी बात पूरी करनेमें अपने मनको दे देना होगा, अतः जीते-जी-बिना मरे सेवाकी भी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अपने पास अपने मनका न रहना ही जीते-जी मरना है। जबतक अपने पास अपना मन रहता है तबतक मृत्युमें जीवन प्रतीत होता है और जब अपने पास अपना मन नहीं रहता, तब जीवनमें ही मृत्युका अनुभव होता है।

अब यदि कोई यह कहे कि अपने पास अपना मन न रहे, इसके लिये साधकको क्या करना है? तो कहना होगा कि साधकका जिनसे सम्बन्ध है उनके मनसे अपना मन मिला देना चाहिये, पर उसी अंशमें जिस अंशमें उनका हित हो। यदि असमर्थताके

कारण साधक दूसरोंके मनकी बात पूरी न कर सके तो उसे नम्रता-पूर्वक दुखी हृदयसे क्षमा माँग लेनी चाहिये। ऐसा करनेसे भी साधकका मन साधकके समीप न रहेगा, क्योंकि किसीके मनकी बात पूरी करना अथवा मनकी बात पूरी न करनेके दुःखसे दुखी होना समान अर्थ रखता है। अतः योगी, विवेकी, प्रेमी और सेवक होनेके लिये जीवनमें ही मृत्युका अनुभव करना है। योगसे सामर्थ्य, विवेकसे अमरत्व और प्रेमसे अगाध अनन्त रसकी उपलब्धि सुगमतापूर्वक हो सकती है, जो वास्तविक जीवन है।

साधन करनेमें कोई असमर्थ नहीं है

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि साधन करनेमें न तो असमर्थता है और न असिद्धि; क्योंकि साधन साधककी वर्तमान योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्यपर निर्भर है। अथवा यों कहो कि प्राप्त बलके सदुपयोग एवं विवेकके आदरमें ही साधन निहित है। साधन करनेके लिये किसी अप्राप्त बल, वस्तु, व्यक्ति आदिकी अपेक्षा नहीं है और न उस ज्ञानकी आवश्यकता है जो अपनेमें नहीं है, अपितु जो है उसीसे साधन करना है। यह नियम है कि सामर्थ्यकी न्यूनता तथा अधिकता साधनमें कोई अर्थ नहीं रखती। जिस प्रकार प्रत्येक पथिक यदि अपनी ही गतिसे अपने मार्गपर चलता रहे तो अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुँच ही जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक साधक यदि अपनी योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्यके अनुरूप साधननिष्ठ हो जाय तो सिद्धि अवश्यम्भावी है। इसमें संदेहके लिये कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि किसी भी साधकको वह नहीं करना है जिसे वह नहीं कर सकता है, परंतु वह अवश्य करना है जिसे वह कर सकता है।

अब प्रश्न यह होता है कि जब साधनमें असमर्थता और असिद्धि नहीं है, तब हम साधनपरायण क्यों नहीं हो पाते और हमें साध्यकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? तो कहना होगा कि इस प्रश्नका उत्तर प्रत्येक साधकको स्वयं ही देना है, किसी अन्यसे नहीं लेना है; क्योंकि जो जानते हुए भी नहीं मानता और करनेकी

सामर्थ्य होते हुए भी नहीं करता उसे न कोई जना सकता है और न कोई उससे करा सकता है। जिस प्रकार सोये हुएको जगाया जा सकता है, पर जो जगते हुए सो रहा है उसे कोई नहीं जगा सकता, उसी प्रकार जो अपनी जानकारीका स्वयं आदर नहीं करता और प्राप्त बलका सदुपयोग नहीं करता, उसकी कोई भी सहायता नहीं कर सकता; क्योंकि प्राकृतिक नियमके अनुसार विवेकके अनादरसे अविवेककी और बलके दुरुपयोगसे निर्बलताकी ही वृद्धि होती है। ज्यों-ज्यों प्राणी विवेकका अनादर तथा बलका दुरुपयोग करता जाता है, त्यों-त्यों विवेकमें धुँधलापन और निर्बलता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। यहाँतक कि एक दिन विवेकयुक्त जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है और प्राणी साधन करनेके योग्य नहीं रहता।

साधक जो साधन कर सकते हैं, उसका न करना ही असाधन है। इसके अतिरक्त असाधन-जैसी कोई वस्तु नहीं है। अब विचार यह करना है कि ऐसा क्यों होता है? तो कहना होगा कि साधकने निज विवेकके प्रकाशमें प्राप्त सामर्थ्यका सदुपयोग करनेका प्रयत्न नहीं किया। यह दोष साधकका अपना बनाया हुआ है, प्राकृतिक नहीं। सभी साधकोंका उद्देश्य एक हो सकता है, पर साधन एक नहीं हो सकता। सभी साधकोंमें प्रीतिकी एकता हो सकती है, पर कर्मकी नहीं। हाँ, यह हो सकता है कि अपने साधनका अनुसरण हो और अन्यके साधनका आदर हो। जिस प्रकार कोई भी ओषधि बड़ी या छोटी, ऊँची या नीची तथा भली या बुरी नहीं होती, अपितु जिस रोगकी जो ओषधि है वह उसीके लिये उपयुक्त होती है, उसी प्रकार साधककी रुचि, योग्यता, विश्वास तथा सामर्थ्यके अनुरूप

साधना ही साधकको सिद्धि प्रदान करनेमें समर्थ है। कभी भी दो रोगी परस्परमें संघर्ष नहीं करते कि तुम हमारी ओषधि खाओ तभी नीरोग हो सकते हो, चाहे वे किसी एक ही चिकित्सकसे चिकित्सा क्यों न करा रहे हों। यह सम्भव है कि दो रोगियोंको समान रोग हो, पर यह कभी सम्भव नहीं है कि दो व्यक्ति सर्वांशमें समान रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्यके हों। हाँ, आंशिक एकता दो साधकोंमें हो सकती है और उद्देश्यकी एकता सभी साधकोंमें हो सकती है। इसी कारण प्रीति तथा लक्ष्यकी एकता और साधनकी भिन्नता अनिवार्य है। यदि रोगी अपने चिकित्सक अथवा ओषधिकी प्रशंसा करता रहे किन्तु न तो चिकित्सककी आज्ञाका पालन करे और न विधिवत् ओषधिका सेवन ही करे तथा कुपथ्यका त्याग और सुपथ्यको ग्रहण भी न करे तो क्या वह नीरोग हो सकता है? कदापि नहीं। उसी प्रकार जो साधक अपने साधनकी, अपने आचार्यकी, अपने नेताकी तथा अपने पैगम्बरकी प्रशंसा तो करे, पर साधनको अपना जीवन न बनावे, तो क्या उसे सिद्धि प्राप्त हो सकती है? कदापि नहीं।

जो साधन साधकको रुचिकर होता है और जिसके प्रति किसी प्रकारका संदेह नहीं रहता वह साधकका जीवन बन जाता है, जो सफलताका हेतु है। पर ऐसे साधनका निर्माण तभी हो सकता है जब साधक अपनी योग्यता तथा सामर्थ्यके अनुरूप साधन स्वीकार करे। कोई भी साधक किसी भी परिस्थितिमें यह नहीं कह सकता कि हम साधन नहीं कर सकते, क्योंकि परिस्थितिके अनुरूप ही साधनका निर्माण होता है। अतः प्रत्येक साधकको किसी-न-किसी साधनाके सम्बन्धमें यह स्वीकार करना ही होगा कि हम

कर सकते हैं। यह नियम है कि साधक पूरी शक्ति लगाकर जो साधन कर सकता है, उसीमें सिद्धि निहित है। अतः साधकके जीवनमें साधनमें असमर्थता और असफलताके लिये कोई स्थान ही नहीं है।

यदि कोई साधक साधन निर्माण करनेमें असमर्थता अनुभव करता हो पर उसे साधन करनेकी रुचि हो तब भी साधनका निर्माण हो सकता है और सिद्धि मिल सकती है, क्योंकि यह नियम है कि चाहकी अपूर्तिमें स्वभावसे ही वेदना जाग्रत् हो जाती है। जिस प्रकार तृषित प्राणीकी जलकी चाह न तो मिटानेसे मिटती है, न घटती है, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। जबतक जल नहीं मिल जाता, तबतक किसी भी प्रकारसे उसे चैनसे नहीं रहने देती। उसी प्रकार साधन करनेकी चाह साधकको उस समयतक चैनसे नहीं रहने देगी जबतक साधनका निर्माण न हो जायगा। जैसे कोई भी प्रलोभन तथा भय तृषावान्की तृषाको, जबतक उसका अस्तित्व है, मिटा नहीं सकता, अर्थात् जलके मिलनेपर ही उसकी तृषा शान्त होती है, उससे पूर्व नहीं, उसी प्रकार साधनकी तीव्र लालसा तबतक किसी प्रकार मिटती नहीं जबतक साधन-निर्माण तथा साधननिष्ठा प्राप्त नहीं हो जाती। इस दृष्टिसे भी यह सिद्ध होता है कि साधक साधन-निर्माणमें और साधननिष्ठ होनेमें स्वाधीन है।

साधकको दो ही बातोंपर ध्यान देना है। एक तो यह कि वह जो कर सकता है उसे कर डाले और निश्चिन्त हो जाय, दूसरी यह कि साधन न होनेकी गहरी वेदना जाग्रत् हो जाय। निश्चिन्तता निर्भयताको और निर्भयता प्रसन्नताको जन्म देती है। प्रसन्नता खिन्नताको खा लेती है और खिन्नताके मिटते ही

कामनाओंका अन्त हो जाता है। कामनाओंके अन्तमें ही जिज्ञासाकी पूर्ति निहित है। यह नियम है कि वर्तमानकी वेदना भविष्यकी उपलब्धि होती है। इस प्रकार वेदनासे भी साधकको सफलता हो सकती है। अतः साधकके जीवनमें निराशाके लिये कोई स्थान ही नहीं है। साधक जो कर सकता है, उसको जब नहीं करता और साधन न होनेका दुःख भी उसे नहीं होता, तब समझना चाहिये कि यही उसके जीवनका सबसे काला समय है, जिसे उसने स्वयं ही बनाया है।

साध्यका यह स्वभाव है कि जो साधक प्राप्त सामर्थ्यका उपयोग करता है उसे तो वह आवश्यक सामर्थ्य तबतक बिना ही माँगे देता रहता है जबतक कि साधक साध्यसे अभिन्न नहीं हो जाता। एवं जो साधक प्राप्त सामर्थ्यका उपयोग न करनेके दुःखसे दुखी होकर अपनेको साध्यके समर्पित कर देता है उसे साध्यकी कृपाशक्ति स्वतः साध्यसे अभिन्न कर देती है। अतः दोनों दशाओंमें साध्य स्वयं साधकको अपना लेता है, यह साध्यकी महिमा है। इस महिमाको कोई जाने अथवा न जाने, माने अथवा न माने, साध्यकी कृपाशक्ति तो अपना कार्य करती ही रहती है।

साधनयुक्त जीवनमें विलक्षणता यह है कि साधककी अल्प सामर्थ्यके आधारपर साधन निर्माण हो अथवा किसी विशेष सामर्थ्यके आधारपर। साध्यकी प्राप्ति सभी साधकोंको समान होती है, क्योंकि साधक, साधन और साध्य—इन तीनोंमें जातीय तथा स्वरूपकी एकता है। अतः साधनयुक्त जीवनमें सिद्धि निहित है, यह निर्विवाद सत्य है।

वर्तमानका आदर ही साधन है

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक साधकको जो मिला है उसीमें उसका हित निहित है, क्योंकि प्राकृतिक न्याय प्रेम तथा उदारतासे पूर्ण है। इस दृष्टिसे प्राप्त परिस्थितिका आदरपूर्वक सदुपयोग करना ही विकासका मूल है। हाँ, यह अवश्य है कि वर्तमानका आदर करना है, उसकी दासतामें आबद्ध नहीं होना है। अप्राप्त परिस्थितिके चिन्तनका त्याग वर्तमान परिस्थितिके आदरमें निहित है। जब साधक वर्तमानका आदरपूर्वक सदुपयोग करने लगता है और अप्राप्त वस्तु तथा व्यक्ति आदिका चिन्तन नहीं करता, तब बड़ी ही सुगमतासे सब प्रकारकी चाह और चिन्तनसे रहित हो जाता है। चाह और चिन्तनसे रहित होते ही चिरशान्ति स्वतः प्राप्त होती है, जिसमें अनन्त सामर्थ्य निहित है। अतः साधकके जीवनमें असमर्थता और प्रतिकूलता-जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। वर्तमानका अनादर और दुरुपयोग ही साधकको सफल नहीं होने देता है, जो साधकका अपना बनाया हुआ दोष है। यह नियम है कि अपने बनाये हुए दोषके त्यागमें साधक सर्वदा स्वाधीन है, पर जबतक साधक दोषजनित सुखका उपयोग करता रहता है अथवा दोषको दोष जान लेनेपर भी दुखी नहीं होता है तबतक दोषका त्याग नहीं हो पाता। दोषका त्याग न कर सकनेकी जो निर्बलता है वह प्राकृतिक नहीं है। उसे तो साधकने अपनी असावधानीसे ही उत्पन्न किया है, अतः वह सावधानीपूर्वक मिटायी

जिस ज्ञानसे हमें दूसरोंके कर्तव्यका ज्ञान होता है, क्या उससे हम अपना कर्तव्य नहीं जान सकते? अवश्य जान सकते हैं। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जिसे अपने अधिकार और दूसरोंके कर्तव्यका ज्ञान न हो? क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो अपने प्रति दूसरोंसे बुराई करानेकी आशा करता हो? कोई भी नहीं। जिसे अपने अधिकारका ज्ञान है उसे दूसरोंके अधिकारका ज्ञान स्वभावसे ही होना चाहिये; क्योंकि ज्ञान तो नित्य प्रकाश है। वह तो सभीको वास्तविकताका दर्शन कराता है। दूसरेका अधिकार ही तो अपना कर्तव्य है। अतः अपने कर्तव्यका ज्ञान साधकको स्वभावसिद्ध है। साधक कर्तव्यनिष्ठ हो अथवा न हो पर कर्तव्यका ज्ञान उसमें अवश्य निहित है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कर्तव्यका ज्ञान होनेपर भी कर्तव्यपरायणता क्यों नहीं होती? तो कहना होगा कि प्रत्येक साधकमें ज्ञानके दो स्थल हैं—बुद्धि और इन्द्रिय, उन दोनोंके बीचमें मनदेवताका निवास है। अब देखना यह है कि मन देवतापर इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव है या बुद्धिके ज्ञानका अथवा आंशिकरूपसे दोनोंका? जिन प्राणियोंके मनपर केवल इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव है, उनमें तो कर्तव्यका प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता और जिनके मनपर केवल बुद्धिके ज्ञानका प्रभाव है वे स्वाभावसे ही कर्तव्यनिष्ट होते हैं। कर्तव्यपरायणताका प्रश्न उन्हीं प्राणियोंके सामने आता है जिनके मनपर बुद्धि और इन्द्रियाँ दोनोंके ज्ञानका प्रभाव हो। इन्द्रियोंका ज्ञान सुखभोगकी ओर तथा बुद्धिका ज्ञान उसके परिणामकी ओर प्राणीको आकर्षित करता है।

यदि बुद्धिका ज्ञान सबल हो जाय और इन्द्रियज्ञानके प्रभावको खा जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधकमें कर्तव्यपरायणता आ सकती है। हम जानते हुए नहीं मान पाते और मानते हुए नहीं कर पाते, इसका एकमात्र कारण है मनमें इन्द्रिय तथा बुद्धिके ज्ञानका द्वन्द्व। उस द्वन्द्वका अन्त करनेके लिये साधकोंको श्रद्धा तथा विश्वासपूर्वक परस्पर विचारविनिमय करना चाहिये।

जब बुद्धि अपने प्रकाशकमें, मन बुद्धिमें और इन्द्रियाँ मनमें विलीन हो जाती हैं, तब साधकको सिद्धि प्राप्त हो जाती है। पर यह तभी सम्भव होगा जब मनके सभी संकल्प विवेकके प्रकाशसे प्रकाशित हों अर्थात् अविवेकसे उत्पन्न हुए संकल्प मिट जायँ। अशुद्ध संकल्पोंका त्याग ही साधनकी सर्वप्रथम भूमि है। शुद्ध संकल्पोंकी पूर्ति साधनकी दूसरी भूमि और शुद्ध संकल्पोंकी पूर्तिके सुखमें आबद्ध न होना साधनकी तीसरी भूमि है। निःसंकल्पतापूर्वक मनका बुद्धिमें विलीन हो जाना साधनकी चतुर्थ भूमि है और बुद्धिका सम होकर चिरशान्तिमें निवास करना पाँचवीं भूमि है। इस दृष्टिसे साधनकी प्रगति पाँच भिन्न स्थलोंमेंसे होती है अथवा अपनी योग्यताके अनुसार साधक उपर्युक्त पाँच स्थलोंमेंसे किसी भी एक स्थलसे साधनका आरम्भ कर सकता है। यह नियम है कि साधन चाहे किसी भी स्थलसे आरम्भ किया जाय, एक स्थलकी पूर्णता दूसरे स्थलमें प्रवेश करानेमें स्वतः हेतु हो जाती है। इस दृष्टिसे साधनका आरंभ होनेपर साधक किसी भी कोटिका हो, सिद्धिका होना अनिवार्य है।

समस्त साधन दो भागोंमें विभाजित हैं—एक तो विचारपूर्वक शरीर और विश्वके स्वरूपको जानना, दूसरा विश्वासपूर्वक विश्वके

प्रकाशकको मानना। जिसने विश्वके स्वरूपको जान लिया वह स्वभावसे ही जिज्ञासु हो जाता है और जिसने विश्वके प्रकाशकको मान लिया वह भक्त हो जाता है।

जिज्ञासु अपने जाने हुए दोषके त्यागमें समर्थ है और भक्त अपनेको समर्पित करनेमें समर्थ है।

जो जिज्ञासु अपने जाने हुए दोषका त्याग नहीं कर सकता और जो भक्त अपनेको समर्पित नहीं कर सकता वे दोनों ही साधनमें सफल नहीं हो पाते। दोनों प्रकारके साधकोंका लक्ष्य एक है, पर साधनामें भेद है, क्योंकि जिज्ञासु प्रथम जानता है, फिर मानता है, और भक्त प्रथम मानता है, फिर जानता है। जाननेमें मानना और माननेमें जानना निहित है। साधक वह नहीं हो सकता जो न तो जाने हुए-का आदर करता है और न माने हुएपर दृढ़ ही रहता है।

अनुभूति और विकल्परहित विश्वासका नाश नहीं होता। अन्तर केवल इतना है कि अनुभूतिके आधारपर अपनेपर विश्वास होता है और विश्वासके आधारपर उसपर विश्वास होता है जो समस्त विश्वका पति है।

विश्वासकी साधनाके भी पाँच स्थल हैं—प्रथम स्वीकृति, दूसरा विश्वास, तीसरा सम्बन्ध, चौथा स्मृति और पाँचवाँ प्रीति।

अब यदि कोई यह कहे कि स्वीकृति और विश्वास आदिमें भेद क्या है? तो कहना होगा कि 'विश्वका कोई प्रकाशक है' ऐसा मान लेना स्वीकृति है। 'उसपर मुझे विश्वास है' यह मान लेना विश्वास है। 'उससे मेरा नित्य सम्बन्ध है' अर्थात् वह मेरा है और मैं उसका हूँ, ऐसा सर्वदा मानना सम्बन्ध है। 'उसके विना मैं नहीं

रह सकता' यह स्मृति है और 'उससे मेरी अत्यन्त आत्मीयता है' ऐसा अनुभव करना प्रीति है। साधनका आरम्भ स्वीकृतिसे होता है और उसकी पराविध प्रीतिमें होती है। ऐसा होनेपर साधक स्वतः अपने प्रेमास्पदसे अभिन्न हो जाता है, क्योंकि प्रीति किसी प्रकारका भेद तथा दूरी नहीं रहने देती। इतना ही नहीं, प्रीति प्रेमास्पदको प्रेमी बनानेमें भी समर्थ है।

यह नियम है कि अनुभव तथा मधुर स्मृति और सम्बन्ध कभी नष्ट नहीं होते। अतः एक बारका सम्बन्ध और स्मृति भी साधकको साध्यसे मिलानेमें समर्थ है। फिर जिनकी स्मृति अखण्ड है, उन्हें वर्तमानमें ही प्रेमास्पदकी प्राप्ति हो जाय इसमें तो सन्देह ही क्या है? जिनका समस्त जीवन नित्य ज्ञानसे प्रकाशित है, वे तो वर्तमानमें ही तत्त्वज्ञ हैं। इस दृष्टिसे साधक चाहे जिज्ञासु हो अथवा भक्त, दोनों ही अपने-अपने साधनद्वारा साध्यसे अभिन्न हो सकते हैं।

जिज्ञासुओंके द्वारा निर्दोषता और भक्तोंके द्वारा प्रीतिका प्रसार स्वतः वैसे ही होता रहता है जैसे पुष्पोंसे सुगन्ध स्वतः फैलती है। अतः साधक भक्त अथवा जिज्ञासु होकर वर्तमानका आदरपूर्वक सदुपयोग करते हुए अपने उस साध्यसे अभिन्न हो सकते हैं, जो वास्तविक जीवन है।

स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि हमारे सामने दो समस्याएँ उपस्थित हैं--एक तो वर्तमानका सदुपयोग करनेकी और दूसरी स्वाभाविक आवश्यकताको पूर्ण करनेकी; क्योंकि वर्तमानके सदुपयोगमें ही कर्तव्य निहित है और कर्तव्यनिष्ठासे ही रागकी निवृत्ति होती है। रागकी निवृत्तिमें ही स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति निहित है। अतः रागरहित होकर स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्तिमें ही जीवनकी सार्थकता है।

अब विचार यह करना है कि स्वाभाविक आवश्यकता क्या है? तो कहना होगा कि स्वाभाविक आवश्यकता उसीकी हो सकती है जिससे जातीय और स्वरूपकी एकता हो। जातीय और स्वरूपकी एकता किससे है? इसका ज्ञान तभी हो सकता है जब मानी हुई एकताका त्याग कर दिया जाय। मानी हुई एकताका त्याग करनेके लिये हमें उन सभीके अधिकारोंकी रक्षा करनी होगी जिनसे हमने एकता स्वीकार की है। साथ ही हमें अपने अधिकारोंका भी त्याग करना होगा। ऐसा करते ही मानी हुई एकता मिट जायगी, उसके मिटते ही कामनाओंका अन्त हो जायगा। कामनाओंके अन्तमें ही जिज्ञासाकी पूर्ति निहित है और जिज्ञासाकी पूर्तिमें प्रेमकी प्राप्ति स्वतः सिद्ध है, यही वास्तवमें प्राणीकी स्वाभाविक आवश्यकता है। जिज्ञासाकी पूर्ति साधकको अनित्य जीवनसे मुक्त करके नित्य जीवनसे अभिन्न करती है। अथवा यों कहो कि क्रियाशीलता, चिन्तन, स्थिति आदि अवस्थाओंसे

असङ्ग कर देती है। अवस्थाओंसे अतीतके जीवनमें न तो किसी प्रकारका श्रम है, न अभाव है और न किसी वस्तु, व्यक्ति आदिकी अपेक्षा ही है। केवल अनन्त दिव्य चिन्मय जीवन है और उसी चिन्मय जीवनमें प्रेमकी प्राप्ति होती है। प्रेम-जैसा अलौकिक तत्त्व सभीको अभीष्ट है। उससे किसीकी कभी भी तृप्ति नहीं होती, अपितु नित नव उत्कण्ठा ही जाग्रत् रहती है तथा प्रेमके आदान-प्रदानमें कभी प्रेमकी क्षति तो होती ही नहीं, अपितु नित-नव वृद्धि ही होती रहती है।

उस अलौकिक प्रेम-प्राप्तिके लिये साधकको वर्तमान परिस्थितिके सदुपयोगद्वारा अपनेको रागरहित करना होगा। यह तभी सम्भव है जब अपने जीवनको समाजके अधिकारका समूह बना दिया जाय अर्थात् व्यक्ति समाजका ऋणी न रहे और उसकी प्रसन्नता किसी वस्तु, व्यक्ति आदिपर निर्भर न रहे तभी वह पूर्णरूपसे वर्तमानका सदुपयोग कर सकता है, जो साधकका परम पुरुषार्थ है। वर्तमानके सदुपयोगमें इस बातका सदैव ध्यान रखना है कि अपने प्रति न्याय हो और अन्यके प्रति क्षमायुक्त व्यवहार हो। न्याय प्राणीको निर्दोष और क्षमा निर्वैर बनाती है। निर्दोषतासे निरभिमानता और निर्वैरतासे एकता स्वतः आ जाती है, क्योंकि किसी-न-किसी अभिमानके आधारपर ही दोष जीवित रहता है और वैरभावके आधार पर ही भिन्नता बनी रहती है। भिन्नता और अभिमानके रहते हुए वर्तमान सदुपयोग सम्भव नहीं है और वर्तमानके सदुपयोगके बिना साधक वीतराग नहीं हो सकता। वीतराग हुए बिना न तो चिरशान्ति ही मिल सकती है और न प्रेमका ही उदय हो सकता है।

यद्यपि प्रेमका अंकुर बीजरूपसे सभीमें विद्यमान है, परंतु
उसकी अभिव्यक्ति उन्हींके जीवनमें होती है जो कामनारहित होकर
सभीसे आत्मीयता प्राप्त कर लेते हैं। भौतिकवादकी दृष्टिसे समस्त
विश्व एक जीवन है। अतः समस्त विश्वके प्रति आत्मीयताका भाव
आ जानेपर विश्व-प्रेम स्वतः जाग्रत् होता है। समस्त विश्व बुद्धिके
किसी अंशमें है, क्योंकि जो वस्तु जिसका विषय होती है, वह
उसीके अन्तर्गत होती है। इस दृष्टिसे बुद्धि जिसको विषय करती है
वह बुद्धिके ही किसी अंशमें है। कामनारहित होते ही बुद्धि सम
हो जाती है, फिर समस्त विश्वके प्रति आत्मीयताका अनुभव हो
जाता है, वह विश्व-प्रेमकी अभिव्यक्तिमें हेतु है, क्योंकि बुद्धिके
सम होते ही अनेकता एकतामें विलीन होती जाती है और जबतक
बुद्धि सम नहीं होती तबतक एकतामें अनेकताका दर्शन होता रहता
है। बुद्धि सम तबतक नहीं होती जबतक मन निर्विकल्प नहीं होता,
मन निर्विकल्प तबतक नहीं होता जबतक जितेन्द्रियता प्राप्त नहीं
होती तथा जितेन्द्रियता तबतक प्राप्त नहीं होती जबतक शरीरकी
वास्तविकताका ज्ञान नहीं होता और स्वार्थभाव गल नहीं जाता
अर्थात् सेवाभावकी उत्पत्ति नहीं होती।

शरीरकी क्षणभङ्गुरताका ज्ञान, स्वार्थभावका गल जाना तथा
सेवाभावकी उत्पत्ति विश्वप्रेमकी साधना है। विश्वप्रेम सुखभोगकी
आसक्तिको खाकर उस नित्य जीवनकी जिज्ञासा जाग्रत् करता है,
जिसकी पूर्ति स्वतःसिद्ध है। जिज्ञासाकी पूर्ति होते ही बुद्धिसे अतीत
जो नित्य जीवन है उससे आत्मीयता हो जाती है और बुद्धि जिसके
एक अंशमें थी उस अनन्तसे स्वतः प्रेम हो जाता है। अथवा यों कहो कि

विश्व-प्रेम विश्वको पार करता हुआ उस अनन्तका प्रेम हो जाता है जो सबका सब कुछ है; क्योंकि प्रेम-जैसा चिन्मय तत्त्व किसी सीमामें आबद्ध नहीं हो सकता। सीमित प्रेम ही तो मोह है, जो अनेक प्रकारकी आसक्तियाँ और संघर्ष उत्पन्न करता है। जबतक प्रेम असीम नहीं होता तबतक सीमित अहंभावका नाश नहीं होता अर्थात् निरभिमानता नहीं आती, जबतक निरभिमानता नहीं आती तबतक भेदका अन्त नहीं होता तथा जबतक भेदका अन्त नहीं होता तबतक न तो चिरशान्ति मिल सकती है, न निर्भयता और न दिव्य चिन्मय प्रेम ही मिल सकता है; क्योंकि आसक्तियोंके रहते हुए न तो स्वाधीनताकी प्राप्ति हो सकती है और न जीवनकी ही। अतः आसक्तियोंका अन्त करनेके लिये सीमित प्यारका अन्त करना अनिवार्य है। जबतक प्रेम अनन्त नहीं हो जाता तबतक मोह तथा अभिमानका अन्त नहीं होता और निर्मोहता तथा निरभिमानताके बिना न तो वास्तविक जीवनसे अभिन्नता ही होती है और न प्रेमका उदय ही होता है। मोह तथा अभिमानका अन्त करनेके लिये वर्तमानके सदुपयोगद्वारा जिज्ञासाकी जागृति अनिवार्य है, क्योंकि जिज्ञासाकी पूर्तिमें ही जीवन निहित है और जीवनकी प्राप्तिमें ही मोह तथा अभिमानका अन्त है अथवा यों कहो कि मोह तथा अभिमानके अन्तमें ही जीवनकी प्राप्ति है।

जीवनके बिना अभावकी और प्रेमके बिना नीरसताकी सिद्धि होगी, जो किसीको अभीष्ट नहीं है। स्वाभाविक आवश्यकता तो जीवन तथा नित-नव रसकी है। अतः जीवनकी जिज्ञासा और प्रेमकी लालसा इनकी पूर्तिमें ही स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति निहित है। रागरहित होनेमें चिरशान्ति है, चिरशान्तिमें नित्य जीवन और नित्य

जीवनमें प्रेमकी अभिव्यक्ति निहित है। ये सब मिलकर ही जीवनकी एकमात्र आवश्यकता है। इनमेंसे किसी एक अंशको ही जीवन मान लेना जीवनका अधूरापन है। जीवनके किसी एक अंशको ही जीवन मान लेनेपर अनेक प्रकारके वाद तथा मत सिद्धान्तरूप मालूम होते हैं, जो वास्तवमें साधनरूप हैं। अतः चिरशान्ति, अमरत्व और प्रेम—इन तीनोंके बिना स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति नहीं हो सकती। इन तीनोंकी एकतामें ही वास्तविक जीवन है। इस दृष्टिसे साधकको रागरहित होनेके लिये वर्तमानका सदुपयोग करना है और जिज्ञासाकी पूर्तिसे अमरत्व प्राप्त करना है, जो रागरहित होनेपर स्वतः सिद्ध है, एवं जिज्ञासाकी पूर्तिमें ही प्रेमकी प्राप्ति है, क्योंकि निस्संदेहता आनेपर ही प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश होता है। निस्संदेहता सीमित अहंभावको प्रेमके स्वरूपमें बदल देती है अथवा यों कहो कि अनेक आसक्तियाँ मिटकर प्रीतिके रूपमें बदल जाती हैं, फिर विश्व-प्रेम, आत्मरति एवं अनन्तका प्रेम—इन तीनोंमें अभिन्नता हो जाती है, जो स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्तिमें समर्थ है। अथवा यों कहो कि अनन्तका प्रेम ही जिज्ञासाकी पूर्तिकी दृष्टिसे आत्मरति और सर्वहितकारी प्रवृत्तिकी दृष्टिसे विश्व-प्रेमके स्वरूपमें प्रतीत होता है। अथवा अनन्तके प्रेममें ही सभीका प्रेम निहित है। इस दृष्टिसे चिरशान्ति, अमरत्व और प्रेमकी प्राप्ति एक ही जीवनकी विभूतियाँ हैं, और कुछ नहीं। उनमेंसे किसी एककी प्राप्ति होनेपर सभीकी प्राप्ति हो जाती है, यही वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति है।

'मैं' का स्वरूप

जीवनका अध्ययन करनेपर यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न होता है कि मैं क्या हूँ? यह नियम है कि प्रश्नकी उत्पत्ति अधूरी जानकारीमें ही होती है। जिसके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते अथवा पूरा जानते हैं, उसके सम्बन्धमें प्रश्नकी उत्पत्ति नहीं होती। इस दृष्टिसे यह सिद्ध होता है कि मैं क्या हूँ, इस सम्बन्धमें प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ अवश्य जानता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह जानना विवेकपूर्वक न हो अपितु विश्वासके आधारपर हो, क्योंकि विवेकपूर्वक जान लेनेपर तो निस्संदेहता आ जाती है, फिर प्रश्नकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

विकल्परहित विश्वास ज्ञान न होनेपर भी ज्ञान-जैसा प्रतीत होता है। उसी विश्वासके कारण यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मैं क्या हूँ? क्योंकि मैंकी अस्वीकृति किसीको नहीं है। यद्यपि केवल स्वीकृतिको मैं नहीं कह सकते, तो भी हम स्वीकृतिके स्वरूपमें अपनेको मानते हैं। कभी-कभी तो दृश्यके साथ मिलाकर अपनेको मान लेते हैं और कभी श्रवण की हुई स्वीकृतिको भी 'मैं' मान लेते हैं। जब हम दृश्यके साथ मिलाकर अपनेको मानते हैं, तब कामनाओंका उदय होता है और वे सभी कामनाएँ इन्द्रियजन्य स्वभावके अनुरूप होती हैं अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त करानेवाली होती हैं। यद्यपि विषयप्रवृत्तिके अन्तमें प्राप्ति कुछ नहीं

होती, अपितु शक्तिहीनता, जड़ता एवं परतंत्रताकी अनुभूति होती है। उस अनुभूतिके आधारपर ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'मैं' क्या हूँ ? अथवा यों कहो कि सामर्थ्य, चिन्मयता एवं स्वाधीनताकी माँग उत्पन्न होती है। इस दृष्टिसे 'मैं' का अर्थ हो जाता है उसकी लालसा, जिसमें जीवन है, सामर्थ्य है, स्वाधीनता है। जबतक भोग-प्रवृत्तिके परिणामकी वेदना नहीं होती तबतक तो 'मैं' का अर्थ रहता है भोगवासनाओंका समूह। यद्यपि भोग-वासनाएँ जिज्ञासाको मिटा नहीं पातीं, परन्तु उसमें शिथिलता अवश्य आ जाती है। उसी स्थितिमें प्राणीको कभी भोगवासनाएँ और कभी जिज्ञासा दोनोंही अपनेमें प्रतीत होती हैं अथवा यों कहो कि जिज्ञासा और भोगवासनाओंका द्वन्द्व रहता है। उस द्वन्द्वका अन्त करनेके लिये ही प्राणी अपनेको साधक मानता है अथवा यों कहो कि उसमें साधनकी रुचि जाग्रत् होती है। साधनकी रुचि जाग्रत् होनेपर सर्वप्रथम 'मैं' दृश्य नहीं हूँ, यह विचार उदित होता है। उसका उदय होते ही 'मैं क्या हूँ' यह समस्या सामने आती है।

देहके साथ अपनेको मिला लेना ही दृश्यके साथ मिल जाना है, पर उस देहके प्रति भी अनेक मान्यताएँ होती हैं, जो साधन-रूप हैं। जैसे 'मैं हिन्दुस्तानी हूँ'। अतः हिन्दुस्तानका ह्रास-विकास मेरा ह्रास-विकास है। उसी प्रकार देश, जाति, मत, सम्प्रदाय, पद, कुटुम्ब और कार्यक्षेत्रके अनुरूप अनेक मान्यताओंके साथ हम अपनेको मिला लेते हैं, पर सभी मान्यताओंकी भूमि केवल देह है। इस दृष्टिसे देह साधनका क्षेत्र है; परन्तु अन्तर यह हो

जाता है कि केवल देहके साथ मिले रहनेसे तो पशुताके समान केवल भोगकी ही रुचि उत्पन्न होती है, पर साधनरूप मान्यताओंके साथ मिलनेसे भोग-प्रवृत्तिमें भी एक मर्यादा आती है और उसके साथ-साथ भोग-निवृत्तिकी लालसा भी जाग्रत् हो जाती है, क्योंकि भोग-प्रवृत्तिका परिणाम किसीको अभीष्ट नहीं है।

साधनरूप समस्त मान्यताएँ दो भागोंमें विभाजित हैं। एक भाग तो वह है जिसमें अपनेको सुन्दर बनानेवाली मान्यताएँ हैं और दूसरा भाग वह है जिसमें दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करनेवाली मान्यताएँ हैं। अथवा यों कहो कि अपनेको सुन्दर बनाकर दूसरोंके अधिकारोंकी रक्षा करना है। दूसरोंके अधिकारकी रक्षासे जब रागकी निवृत्ति हो जाती है, तब स्वतः समस्त दृश्यसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। दृश्यसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही जिज्ञासाकी पूर्ति अपने आप हो जाती है। फिर यह प्रश्न कि 'मैं क्या' हूँ हल हो जाता है।

साधनरूप "मैं" यद्यपि तीन भागोंमें विभाजित है—विषयी, जिज्ञासु तथा भक्त—उनमेंसे विषयी भावकी मान्यता तो दृश्यसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होने देती किंतु जिज्ञासु तथा भक्तभावकी मान्यताएँ दृश्यसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें समर्थ हैं। अपनेको विषयी मान लेनेमें उत्कृष्ट भोगोंकी ही रुचि दृढ़ होती है, जो दृश्यसे सम्बन्ध जोड़ती है। दृश्यसे सम्बन्ध रहते हुए 'मैं क्या हूँ' यह प्रश्न हल नहीं हो सकता।

ज्ञान, विज्ञान एवं कलाओंके द्वारा परिवर्तनशील जीवनको सुन्दर बनानेका अर्थ यह है कि उस व्यक्तित्वकी आवश्यकता

समाजको हो जाय और उसे समाजकी आवश्यकता न रहे। अथवा यों कहो कि उसकी आवश्यकताको समाज अपनी ही आवश्यकता समझने लगे। यदि समाजकी उदारता, सेवा एवं स्नेहके आधारपर व्यक्तित्वका मोह सुरक्षित रहा तो भी यह प्रश्न हल नहीं होगा कि 'मैं क्या हूँ?' 'मैं क्या हूँ' इस प्रश्नको वही साधक हल कर सकता है जो समाजका ऋणी न हो और समाजकी उदारताकी दासतामें आबद्ध भी न हो। समाजका ऋणी न रहनेपर व्यक्तिका मूल्य समाजसे अधिक हो जाता है और समाजकी उदारताका उपभोग न करनेपर वह व्यक्तित्वके मोहसे रहित हो जाता है। व्यक्तित्वके मोहका अन्त होते ही तीव्र जिज्ञासा जाग्रत् होती है जो 'मैं क्या हूँ' इस समस्याको हल करनेमें समर्थ है। जिस कालमें जिज्ञासा माने हुए सभी सम्बन्धोंको खा लेती है उसी कालमें उसकी पूर्ति हो जाती है। तब 'मैं' नित्य जीवनसे अभिन्न हो जाता है।

अनित्य जीवनका और नित्य जीवनका आश्रय बिना लिये 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अनित्य जीवनके साथ मिलानेसे 'मैं' अनेक मान्यताओंके रूपमें प्रतीत होता है और मान्यताके अनुरूप ही कर्तव्य तथा रागका जन्म होता है। कर्तव्य राग-निवृत्तिका साधन है, अतः जिस प्रकार ओषधिकी आवश्यकता रोग-कालमें होती है, आरोग्य-कालमें नहीं, उसी प्रकार कर्तव्यकी प्रेरणा राग-निवृत्तिके लिये ही होती है। राग-रहित होते ही अनित्य जीवनसे तो सम्बन्ध टूट जाता है और नित्य जीवनसे अभिन्नता हो जाती है; क्योंकि अनित्य जीवन और नित्य जीवनमें देश-कालकी दूरी नहीं है। अनित्य जीवनकी भिन्नता और नित्य जीवनकी अभिन्नताके मध्यमें

'मैं'-जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु कभी देखनेमें नहीं आती। हाँ, यह अवश्य है कि अनित्य जीवनके सम्बन्धसे जो आसक्ति उत्पन्न हो गयी थी, वह नित्य जीवनसे अभिन्नता होते ही प्रीतिके रूपमें बदल जाती है। जिस प्रकार पहले अनित्य जीवन और उसकी आसक्ति प्रतीत होती थी, उसी प्रकार तब नित्य जीवन और उसकी प्रीति ही रह जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि अनित्य जीवन और उसकी आसक्ति तो विनाशी है तथा नित्य जीवन और उसकी प्रीति अविनाशी है। जिज्ञासाके उदयमें साधक अकाम होता है और पूर्तिमें आप्तकाम हो जाता है, यही वास्तविक जीवन है। अब यदि कोई कहे कि जिज्ञासापूर्तिके लिये साधकको किस साधनकी अपेक्षा है? तो कहना होगा कि भोगके परिणामकी अनुभूतिके आधार-पर तो जिज्ञासा जाग्रत् होती है और समस्त दृश्यसे विमुख होनेपर जिज्ञासाकी पूर्ति होती है। समस्त दृश्यसे विमुख होनेकी सामर्थ्य उस अनन्तकी अहैतुकी कृपासे स्वतः प्राप्त होती है, जो स्वभावसे ही सभीका परम सुहृद् है। अथवा यों कहो कि जो उत्पत्ति, विनाश और देश कालकी दूरीसे रहित है, उसीकी अहैतुकी कृपासे दृश्यसे विमुख होनेकी सामर्थ्य जिज्ञासुको प्राप्त होती है। अतः दृश्यकी विमुखता ही जिज्ञासाकी पूर्तिका सुगम और अन्तिम साधन है।

जब किसी कारणसे जिज्ञासु मिली हुई सामर्थ्यका सदुपयोग नहीं कर पाता, तब वही कृपा सद्गुरुके स्वरूपमें मूर्तिमान होकर जिज्ञासाकी पूर्ति कर देती है।

जिज्ञासाकी पूर्ति वर्तमान जीवनका प्रश्न है, भविष्यका नहीं।

अतः जिज्ञासा जाग्रत् होनेपर जबतक हल न हो जाय तबतक किसी अन्य प्रवृत्तिका जन्म नहीं होना चाहिये।

यदि किसीकी जिज्ञासा इतनी सबल तथा स्थायी नहीं है जो वर्तमानकी वस्तु हो, तो ऐसे जिज्ञासुओंको चाहिये कि वे जिज्ञासाको सबल और स्थायी बनानेके लिये निरन्तर इन्द्रिय-दृष्टिपर बुद्धि-दृष्टिको लगाये रखें। उन्हें इन्द्रिय-ज्ञानपर बुद्धिज्ञानसे विजय प्राप्त करनी होगी। जिस कालमें बुद्धिका ज्ञान इन्द्रियज्ञानको खा लेगा उसी कालमें जिज्ञासा वर्तमान जीवनकी वस्तु हो जायगी। फिर 'मैं क्या हूँ' यह प्रश्न स्वतः हल हो जायगा। बुद्धिके ज्ञानका अनादर होनेपर जिज्ञासाकी जागृति नहीं हो सकती, क्योंकि बुद्धिके ज्ञानके अनादरसे इन्द्रिय-ज्ञानका आदर होने लगता है, जो रागको उत्पन्न करनेमें हेतु है। रागकी उत्पत्ति हो जानेपर इन्द्रियाँ विषयोंके अधीन, मन इन्द्रियोंके अधीन और बुद्धि मनके अधीन हो जाती है। इससे बेचारा प्राणी जड़तामें आबद्ध हो जाता है; परन्तु बुद्धिके ज्ञानका आदर होनेपर इन्द्रियाँ विषयोंसे विमुख होकर मनमें विलीन हो जाती हैं, मन निर्विकल्प होकर बुद्धिमें विलीन हो जाता है और बुद्धि सम हो जाती है, उससे जिज्ञासाकी पूर्ण जागृति और उसकी पूर्तिकी सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

बुद्धिके ज्ञानका आदर होनेपर दृश्यके स्वरूपका और अपने कर्तव्यका भी ज्ञान हो जाता है अर्थात् बुद्धिके ज्ञानमें कर्तव्यका तथा दृश्यके स्वरूपका ज्ञान भी निहित है। जो साधक दृश्यके स्वरूपको भलीभाँति जान लेते हैं, वे रागरहित होकर प्रत्येक दशामें जिज्ञासु हो सकते हैं अर्थात् उनके लिये कोई प्रवृत्ति

अपेक्षित नहीं रहती किंतु जो साधक दृश्यके स्वरूपको पूर्णरूपसे नहीं जान पाते, वे पहले कर्तव्यनिष्ठ होकर पीछे जिज्ञासु होते हैं। जिज्ञासाकी जागृतिके लिए रागरहित होना अनिवार्य है, चाहे प्रवृत्तिद्वारा हो अथवा दृश्यके वास्तविक स्वरूपको जानकर। जो साधक सरल विश्वासके आधारपर अपनेको भक्त मान लेता है, वह स्वभावसे ही समस्त विश्वसे सम्बन्ध-विच्छेद कर देता है और अपने प्रभुसे नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। उसमें न तो अपना कोई बल रहता है और न किसी प्रकारका संदेह ही रहता है। जिनसे उसने सम्बन्ध स्वीकार किया है उनके विश्वास और उनकी प्रीतिको ही वह अपना जीवन मानता है। देह, गेह आदि किसीसे उसका सम्बन्ध नहीं रहता। वह प्रत्येक कार्य अपने प्रभुके नाते ही स्वीकार करता है। कार्यके अन्तमें स्वभावसे ही प्रभुकी वह स्मृति उदित होती है जो प्रीतिके स्वरूपमें बदलकर उसे प्रियतमसे अभिन्न कर देती है।

जिज्ञासु और भक्तमें अन्तर केवल इतना है कि जिज्ञासु दृश्यके स्वरूपको जानकर दृश्यसे विमुख होता है और भक्त उसे अपना न मानकर। दृश्यसे विमुख होनेमें दोनों समान हैं। जिज्ञासु जाननेके पश्चात् किसीकी सत्ता स्वीकार करता है और भक्त बिना ही जाने, विश्वासके आधारपर ही अपने प्रभुकी सत्ता स्वीकार कर लेता है।

जिज्ञासु जिज्ञासा होकर उस अनन्तसे अभिन्न हो जाता है जिसकी वह जिज्ञासा था और भक्त भक्ति होकर अपने प्रभुसे अभिन्न हो जाता है। जिज्ञासु जिज्ञासापूर्ति होनेपर अमरत्वको प्राप्त करता है और भक्त भक्ति होकर अपने प्रेमास्पदके प्रेमको

प्राप्त करता है। जिज्ञासुका 'मैं' अमरत्वसे अभिन्न हो जाता है और भक्तका 'मैं' प्रेमास्पदका प्रेम हो जाता है।

विषयीका 'मैं' एकमात्र विषयोंकी आसक्तिके रूपमें ही प्रतीत होता है, जिज्ञासुका 'मैं' अमरत्वसे अभिन्न हो जाता है और भक्तका 'मैं' प्रेम हो जाता है। जो 'मैं' विषयोंकी आसक्तिके रूपमें प्रतीत होता है वह अभावरूप है, क्योंकि विषयासक्तिमें जीवन नहीं है। जिज्ञासुका 'मैं' जिज्ञासाकालमें केवल जिज्ञासा है और जिज्ञासाकी पूर्तिमें उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, क्योंकि जिज्ञासा उससे अभिन्न हो जाती है जिसकी वह जिज्ञासा थी। भक्तका 'मैं' आरंभमें तो प्रभुका विश्वास और प्रभुके सम्बन्धके रूपमें प्रतीत होता है पर अन्तमें प्रभुका प्रेम हो जाता है। प्रेम और प्रेमास्पदमें जातीय एकता है। इस दृष्टिसे 'मैं' अभाव, अमरत्व या प्रेम ही है, और कुछ नहीं है।

(४६)

त्याग और प्रेम

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि त्याग और प्रेमके बिना जीवनकी सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती। त्यागकी भूमि है ममताका अन्त और प्रेमकी भूमि है अभिन्नता।

ममताका उद्‌गमस्थान क्या है? सीमित अहं-भाव, जो अविवेकसिद्ध है। इससे लाभ क्या है? ममता प्रियताका भास कराती है। इससे हानि क्या है? ममता सीमित प्यारमें आबद्ध करती है, जो संघर्षका मूल है।

ममताका अन्त करनेके लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि सीमित अहंभावका अन्त कर दिया जाय। विवेकके प्रकाशमें उन सभी मान्यताओंका अन्त कर दें जो अपनेको सीमित अहंभावमें आवद्ध करती हैं। यह नियम है कि 'अहं' का नाश होनेपर 'मम' का नाश स्वयं हो जाता है। अहं और ममका नाश होते ही भेद और भिन्नता स्वतः मिट जाती है। इनके मिटते ही अभिन्नता आ जाती है, जो प्रेमकी भूमि है।

अब यदि कोई अपनेको अहंभाव मिटानेमें असमर्थ पाता हो तो उसे अपनी ममताको विभु बना देना चाहिये। ममताके विभु हो जानेपर ममता स्वतः मिट जायगी और ममताके मिटते ही अहं मिट जायगा।

सभीको अपना माननेका वही फल होता है जो किसीको भी अपना न माननेसे होता है। इस दृष्टिसे जिसे सभीको अपना मानना रुचिकर हो वह सभीको अपना मानकर अभिन्नता प्राप्त कर सकता है और जिसे किसीको भी अपना न मानना रुचिकर हो वह सभीसे असङ्ग होकर अभिन्नता प्राप्त कर सकता है। भाव यह कि शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे असङ्ग होनेपर निरभिमानता स्वतः आ जाती है और उसके आते ही भेद तथा भिन्नता मिट जाती है। इस दृष्टिसे ममतारहित होनेमें अभिन्नता हेतु है और अभिन्नता आ जानेपर ममतारहित भी हुआ जा सकता है अर्थात् त्यागसे प्रेमऔर प्रेमसे त्यागकी पुष्टि होती है।

अब यदि कोई यह कहे कि त्याग और प्रेमसे जीवनकी सार्थकता कैसे सिद्ध होती है? तो कहना होगा कि त्यागके बिना चिर-शान्ति नहीं मिलती और प्रेमके बिना अगाध अनन्त रसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। चिर शान्तिके बिना जीवन तथा सामर्थ्यकी उपलब्धि नहीं होती और अगाध अनन्त रसके बिना खिन्नता एवं नीरसताका अन्त नहीं हो सकता। खिन्नता तथा नीरसताका अन्त हुए बिना कामका अन्त नहीं होता और कामका अन्त हुए बिना जड़ता, परतंत्रता, शक्ति-हीनता आदि दोषोंका अन्त नहीं हो सकता अथवा यों कहो कि कामका अन्त हुए बिना अभावका अभाव नहीं हो सकता। अभावके अभावमें ही उस जीवनकी सार्थकता है, जो त्याग और प्रेमसे ही सम्भव है।

अब यदि कोई यह कहे कि सभीको अपना मान लेनेसे ममता कैसे मिट सकती है? तो कहना होगा कि जो सभीको अपना मान

लेगा वह किसीका बुरा नहीं चाहेगा। यह नियम है कि जो किसीका बुरा नहीं चाहता वह अपनेसे सुखियोंको देखकर प्रसन्न होता है और अपनेसे दुखियोंको देखकर करुणार्द्र होने लगता है। करुणा सुख-भोगकी आसक्तिको और प्रसन्नता खिन्नताको खा लेती है। सुख-भोगकी आसक्ति तथा खिन्नताके मिटते ही भोग-वासनाओंका अन्त हो जाता है। भोग-वासनाओंके अन्तमें ही नित्ययोग निहित है और नित्ययोगमें ही वह चिरशान्ति तथा सामर्थ्य विद्यमान है, जिससे ममता और अहंता स्वतः मिट जाती है।

जब प्राणी अपनेमें असमर्थता तथा अभावका अनुभव करता है तभी वस्तु एवं व्यक्ति आदिसे ममता करता है। वस्तुकी ममता लोभमें और व्यक्तियोंकी ममता मोहमें आबद्ध करती है। लोभसे जड़ताकी और मोहसे अविवेककी पुष्टि होती है, जो सभी दोषोंका मूल है।

किसीको अपना न माननेसे भी वासनाओंका अन्त हो जाता है और वासनाओंका अन्त होते ही चिर-शान्ति तथा अमरत्वकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि किसीको अपना न माननेसे कामका नाश हो जाता है, क्योंकि जबतक हम किसीसे ममता नहीं करते तबतक कामनाओंका जन्म ही नहीं होता। देहको अपना माननेपर ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं।

चिर-शान्ति, अमरत्व एवं नित-नव-रसकी उपलब्धिके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि सभीको अपना मानें अथवा किसीको अपना न मानें। सभीको अपना माननेसे प्रीति विभु हो जायगी और किसीको भी अपना न माननेसे अमरत्वकी प्राप्ति। प्रीतिके विभु हो जानेपर प्राणी चाहरहित हो जाता है और चाहरहित

होते ही सब प्रकारके भेद तथा संघर्ष मिट जाते हैं। इनके मिटते ही चिर-शान्तिसे और अमरत्वसे अभिन्नता हो जाती है।

अब यदि कोई यह कहे कि सभीको अपना माननेमें सुगमता है अथवा किसीको अपना न माननेमें? तो कहना होगा कि सेवा तथा प्यार करनेके लिये सभीको अपना मान लो और अपनी पूर्तिके लिये किसीको भी अपना मत मानो। सेवा क्रियात्मक रूपसे सीमित और भावरूपसे असीम होती है। सेवाका भाव ही वास्तवमें प्यार है अर्थात् क्रिया सीमित होनेपर भी प्रीति विभु होनी चाहिये। सभीको अपना मान लेनेपर संग्रहकी आसक्ति मिट जाती है, जिसके मिटते ही निर्लोभता आ जाती है, निर्लोभता आते ही प्राप्त वस्तुओंका सदुपयोग होने लगता है और अप्राप्त वस्तुओंकी चाह मिटती जाती है। वस्तुओंकी चाह मिटते ही जड़ता शेष नहीं रहती और वस्तुओंसे अतीत दिव्य चिन्मय जीवनकी लालसा जाग्रत् होती है, जो अपनी पूर्तिमें आप समर्थ है। अपनी पूर्तिके लिये किसीको अपना न माननेसे समस्त दृश्यसे विमुखता आ जायगी, जिसके आते ही अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे अभिन्नता हो जायगी। अतः सेवा करनेके लिये सभी अपने हैं और अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये केवल वही अपने हैं जो सभीसे अतीत और सभीके प्रकाशक भी हैं अथवा यों कहो कि जिनसे सभीको सत्ता मिलती है।

त्याग दृश्यसे विमुख करनेमें और प्रेम अनन्तसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। इस दृष्टिसे त्याग और प्रेममें ही जीवनकी सार्थकता है, जो सभी साधकोंको सर्वदा सुलभ है।

(५०)

विवेककी अलौकिकता

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राप्त विवेकमें कर्तव्य-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान दोनों ही विद्यमान हैं। कर्तव्य-विज्ञानके द्वारा प्राणी सुन्दर समाजका निर्माण कर सकता है और अध्यात्म-विज्ञानके द्वारा अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवनसे अभिन्न हो सकता है।

विवेक अलौकिक तत्त्व है। प्राणीको यह साधननिष्ठ होनेके लिये ही मिला है। समस्त साधन दो भागोंमें विभाजित हैं। एक तो साधनका वह भाग है जिसमें प्राणी अपने व्यक्तित्वको सुन्दर बनाकर सुन्दर समाजका निर्माण करता है और साधनका दूसरा भाग वह है जिसमें प्राणी व्यक्तित्वके मोह तथा बन्धनोंसे रहित होकर अमरत्वको प्राप्त करता है।

विवेक किसी कर्मका फल नहीं है, क्योंकि कर्मानुष्ठानके लिये प्रथम विवेक, सामर्थ्य और प्राकृतिक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। इस दृष्टिसे कर्म विवेकका कार्य है, कारण नहीं। अतः विवेक अलौकिक तत्त्व है, जो अनंतकी अहैतुकी कृपासे मिला है। उसका आदर करना अत्यन्त आवश्यक है।

कर्तव्य-विज्ञानका प्रथम भाग व्यक्तिको सुन्दर बनाना है और दूसरा भाग सुन्दर व्यक्तित्वसे समाजको सुन्दर बनाना है। समाजको सुन्दर बनानेके लिये दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करना आवश्यक है।

अब यदि कोई यह कहे कि दूसरोंका अधिकार क्या है ? तो कहना होगा कि जो बात हम अपने प्रति दूसरोंसे नहीं कराना चाहते हैं वह दूसरोंके प्रति नहीं करना है, अपितु जो हम दूसरोंसे आशा करते हैं वही हमें दूसरोंके प्रति करना है। प्रत्येक व्यक्ति अपनेसे जो सबल है उससे रक्षा और प्यारकी आशा करता है। अतः अपनेसे निर्बलोंकी रक्षा करनी है और उन्हें प्यार देना है। ऐसा करनेसे प्राप्त बलका सदुपयोग होगा। बलके सदुपयोगसे बलकी वृद्धि होती है, क्योंकि कर्म-विज्ञानकी दृष्टिसे जो दूसरोंके प्रति किया जाता है, वही प्राकृतिक नियमके अनुसार कई गुना होकर अपने प्रति हो जाता है। इस दृष्टिसे बलके सदुपयोगमें बलका विकास और दुरुपयोगमें उसका ह्रास निहित है। कर्तव्य-विज्ञान बलके दुरुपयोगकी प्रेरणा नहीं देता।

यह नियम है कि कोई व्यक्ति किसी अन्यके दुःखका अन्त नहीं कर सकता, तो भी प्राप्त सौंदर्य और सुखको बाँटकर अपनेको उदार तो बना ही सकता है। यह अवश्य है कि समस्त विश्व मिलकर भी किसी एक व्यक्तिके दुःखका नितान्त अभाव नहीं कर सकता, फिर किसी व्यक्तिके द्वारा किसी व्यक्तिके दुःखका सर्वथा अन्त हो सके, यह कैसे सम्भव है ? पर इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति प्राप्त सुखको दुखियोंकी सेवामें व्यय न करे; क्योंकि सुख तो वास्तवमें दुखियोंकी ही वस्तु है। अतः उसे दुखियोंकी सेवामें व्यय करके अपनेको सुखकी दासतासे मुक्त करना है। सुखकी दासतासे मुक्त होते ही प्राणीके सब प्रकारके अभावका अभाव करनेकी लालसा स्वतः जाग्रत् होती है। उस लालसाकी पूर्तिके लिये अध्यात्म-विज्ञानकी आवश्यकता है।

अध्यात्म-विज्ञानका अर्थ है 'स्व' का विज्ञान, जो 'पर' से विमुख होनेकी प्रेरणा देता है। 'स्व' का अर्थ है, जिससे नित्य योग है और 'पर' का अर्थ है जिससे वियोग अनिवार्य है। जाग्रत्‌का समस्त दृश्य स्वप्नमें नहीं रहता और स्वप्नका दृश्य सुषुप्तिमें नहीं रहता तथा सुषुप्तिकी जड़ता समाधिमें नहीं रहती, परंतु इन सभी अवस्थाओंका प्रकाशक तो सर्वदा ज्यों-का-त्यों रहता है। इस दृष्टिसे सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियोंसे अतीतका योग ही नित्य योग है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंका ज्ञान तो प्रायः प्रत्येक व्यक्तिको है ही। जाग्रत् और स्वप्नमें सुख-दुःखकी अनुभूति होती है, पर सुषुप्तिमें किसीको भी दुःखकी अनुभूति नहीं होती। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब दृश्यसे सम्बन्ध नहीं रहता, तब दुःख नहीं होता। इस अनुभूतिके आधारपर यदि जाग्रत्‌में ही सुषुप्ति प्राप्त कर ली जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक दुःखका अन्त हो सकता है। जाग्रत्‌में सुषुप्ति प्राप्त करनेके लिये वर्तमान कार्यको सुन्दरतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर पवित्र भावसे करना है। कार्यका अन्त होते ही अपनेको सब ओरसे हटा लेना है और किसी भी कार्यका चिन्तन नहीं करना है। बस, ऐसा होते ही जाग्रत्‌में सुषुप्ति हो जायगी, जो वास्तवमें समाधि है। समाधि और सुषुप्तिमें अन्तर केवल इतना ही है कि सुषुप्तिमें जड़ता है; किन्तु समाधिमें जड़ता नहीं रहती। सुषुप्ति विश्राम देकर कार्य करनेकी क्षमता और समाधि जड़तासे विमुख करके उस चिन्मय दिव्य जीवनसे अभिन्न होनेकी सामर्थ्य प्रदान करती है, जो वास्तविक जीवन है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुओं तथा अवस्थाओंके परिवर्तनका ज्ञान जिस ज्ञानमें है, वही विवेक है। परिवर्तनका ज्ञान उसीको हो सकता है जो स्वयं परिवर्तनशील न हो। कर्तव्य-परायणताके द्वारा व्यक्ति अपनेको समाज तथा समस्त विश्वके ऋणसे मुक्त कर सकता है और अध्यात्म-विज्ञानके द्वारा अपनेको सब ओरसे हटाकर अर्थात् जीवनहीमें मृत्युका अनुभव करके अपनेहीमें अपने परम प्रेमास्पदको पाकर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टिसे कर्तव्य-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान दोनोंहीसे जीवनकी पूर्णता सिद्ध होती है और वे दोनों विवेकमें विद्यमान हैं। विवेक और सामर्थ्य उस अनन्तकी देन है, किसी व्यक्तिकी सम्पत्ति नहीं। अथवा यों कहो कि व्यक्तिकी खोज भले ही हो, उपज नहीं है। खोज उसीकी होती है जो है। अतः प्राप्त विवेक और सामर्थ्यके सदुपयोगमें ही जीवनकी सार्थकता है अर्थात् उसके द्वारा ही अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे अभिन्नता हो सकती है।

———

व्यक्तित्वकी निवृत्तिमें जीवन

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्तित्व तीन भागोंमें विभाजित है—कामनाकी उत्पत्तिमें, पूर्तिमें और उसकी निवृत्तिकी लालसामें। कामनाकी उत्पत्तिमें अभाव, पूर्तिमें क्षणिक सुख और पूर्तिके परिणाममें भयंकर दुःख प्रतीत होता है, जो कामनानिवृत्तिकी लालसा जाग्रत् करनेमें हेतु है। कामनाओंकी उत्पत्तिके उद्गमस्थान और पूर्तिके क्षेत्रमें जातीय एकता तथा गुणोंकी भिन्नता है अर्थात् कामनाकी उत्पत्ति तथा पूर्तिका क्षेत्र एक ही धातुसे निर्मित है। यदि ऐसा न हो तो जिसमें कामना उत्पन्न होती है, उसकी न तो कामना-पूर्तिके क्षेत्रसे आसक्ति होती और न प्रवृत्ति ही सिद्ध होती।

यह नियम है कि परप्रकाश्य तत्त्वमें अनेक श्रेणियाँ होती हैं—जैसे यन्त्र, हाथ और संचालकका मस्तिष्क—ये तीनों ही परप्रकाश्य हैं, अतः एक ही जातिके हैं, परन्तु श्रेणी-भेद होनेसे यन्त्र, हाथ और मस्तिष्ककी जड़तामें भेद मालूम होता है। यन्त्रकी अपेक्षा हाथमें और हाथकी अपेक्षा मस्तिष्कमें अधिक चेतना प्रतीत होती है। इस दृष्टिसे कामनाएँ जिसमें उत्पन्न होती हैं वह, भोगनेके साधन और भोग्य वस्तुएँ ये सभी परप्रकाश्य हैं; किन्तु भोग्य वस्तुकी अपेक्षा भोगनेके साधनोंमें और उसकी अपेक्षा भोक्तामें अधिक चेतना प्रतीत होती है—जैसे रूपकी अपेक्षा

नेत्रमें और नेत्रकी अपेक्षा देखनेके अभिमानीमें अधिक चेतना प्रतीत होती है।

इस बातको जानकर कि देखनेका अभिमानी, नेत्र और रूप—ये तीनों एकही जातिके हैं, उनमें केवल गुणोंका ही भेद है, यदि देखनेकी कामनाका अन्त कर दिया जाय तो तीनों उसी एकमें विलीन हो जायँगे जो तीनोंका प्रकाशक है और तीनोंको सत्ता देता है।

अब यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि देखनेके अभिमानीमें देखनेकी कामना कबसे उत्पन्न हुई और क्यों उत्पन्न हुई? तो विचार करने पर विदित होगा कि प्रवृत्ति स्वभावसे ही निवृत्तिमें विलीन होती है। देखनेकी प्रवृत्तिसे कोई ऐसा परिणाम प्राप्त नहीं होता जिसका कोई अस्तित्व हो और प्रवृत्तिके अन्तमें अभाव ही शेष रहता है। जिस प्रवृत्तिके परिणाममें अभाव हो एवं प्रवृत्तिकालमें परतन्त्रता हो उसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः देखनेके अभिमानीमें देखनेकी कामना कबसे उत्पन्न हुई इसके लिये किसी कालकी कल्पना नहीं की जा सकती। केवल यह कहा जा सकता है कि देखनेकी प्रवृत्तिका अन्त होता है। इस कारण देखनेकी प्रवृत्तिकी उत्पत्ति सिद्ध होती है अर्थात् विनाशके आधारपर ही उत्पत्तिकी बात कही जाती है। देखने आदिकी प्रवृत्ति क्यों होती है? तो कहना होगा कि देखनेकी वास्तविकता जाननेके लिये अर्थात् प्रवृत्तिकी वास्तविकता जाननेके लिये ही प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्तिकी वास्तविकताका ज्ञान होनेपर प्रवृत्तिकी कामना मिट जाती है, जिसके मिटते ही भोक्ता जिज्ञासु हो जाता है। जिस कालमें जिज्ञासा जिज्ञासुको

खाकर पूर्ण जाग्रत् होती है, उसी कालमें उसकी पूर्ति हो जाती है, जिसके होते ही भोक्ता, भोगनेके साधन और भोग्य वस्तुएँ तीनों ही उसी एकमें विलीन हो जाते हैं, जो सभी कल्पनाओंसे अतीत है।

क्या भोक्ताके बिना भोग्य वस्तु और भोग्य वस्तुके बिना भोक्ताकी सिद्धि हो सकती है? कदापि नहीं। भोक्ता भोग्य वस्तुका विनाशक है और भोग्य वस्तु भोक्ताको परिच्छिन्न तथा परतन्त्र बनानेमें हेतु है।

यदि भोक्तामें परतन्त्रता और परिच्छिन्नता आ जानेकी वेदना असह्य हो जाय तो स्वाधीन और अपरिच्छिन्न होनेकी लालसा स्वतः जाग्रत् हो जाती है, जो भोग-वासनाओंको खाकर उससे अभिन्न हो जाती है जिसकी वह लालसा है, क्योंकि लालसामें सत्ता उसीकी होती है, जिसकी वह लालसा होती है।

भोक्ता, भोगके साधन और भोग्य वस्तु—यद्यपि इन तीनोंमें जातीय एकता है, परंतु भोक्ता कौन है? यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है। कहना होगा कि जो शरीरके साथ तादात्म्य स्वीकार करता है वही भोक्ता है और जो भोक्ता है वही कर्ता है—जैसे श्रोत्रसे तद्रूप होकर मैं सुनता हूँ और वाणीसे तद्रूप होकर मैं बोलता हूँ इत्यादि। यदि अपनेको इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे तद्रूप न किया जाय तो भोक्ताके अस्तित्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। शरीरसे तादात्म्य न रहनेपर भोक्ताके अस्तित्वका तो पता ही नहीं चलता, केवल सबका प्रकाशक सबके साक्षीके रूपमें शेष रहता है। जिस प्रकार दीपकके प्रकाशमें कोई वेद पढ़ता है और कोई जूआ खेलता है, पर दीपक न तो वेद पढ़ता है और न जूआ खेलता है।

यद्यपि प्रकाशके बिना दोनोंहीके कार्य सिद्ध नहीं हो सकते, परंतु प्रकाशक स्वयं कुछ नहीं करता। उसी प्रकार जो सर्वका प्रकाशक है उसमें कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वका आरोप नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे जो प्रकाशक है, वह कर्ता तथा भोक्ता नहीं है और जो कर्ता तथा भोक्ता है, वह प्रकाशक नहीं है।

भोग-वासनाओंका अन्त होनेपर भोक्ता-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती। उसके मिटते ही भोगकी आसक्ति सर्व-प्रकाशककी प्रीति बन जाती है, जो दिव्य तथा चिन्मय है।

संकल्पोंकी उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति एवं वस्तुओंकी उत्पत्ति और विनाश तथा अवस्थाओंके परिवर्तनका ज्ञान जिसको है उसे अपनी उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तनका ज्ञान नहीं है। जो उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तनसे रहित है वही उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तनका प्रकाशक है।

उत्पत्ति, विनाश और परिवर्तनके मूलमें उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तनरहित तत्त्वका होना स्वाभाविक है, नहीं तो उत्पत्ति, विनाश और परिवर्तनकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि उत्पत्ति किसीसे होगी और विनाश किसीमें होगा। इस प्रकार परिवर्तन उत्पत्ति विनाशके क्रमका नाम है।

उत्पत्ति और विनाशका मूल आधार एक है। इस दृष्टिसे उत्पत्ति और विनाशमें सत्ता उसीकी हो सकती है जो उनका आधार है, क्योंकि जिसकी स्वतन्त्र सत्ता होती है उसमें उत्पत्ति-विनाश घटित नहीं हो सकते। इस दृष्टिसे जो सर्वका प्रकाशक है और सर्वका आधार है उसीसे सम्पूर्ण सत्ताएँ प्रकाशित होती हैं

आवश्यकता है, उसीकी उपासना करनी है और उसीसे अभिन्न होना है। यह तभी संभव होगा जब व्यक्ति उसके प्रतीकमें उन सभी दिव्य चिन्मय गुणोंकी स्थापना करके, जो उसकी आवश्यकताओंमें विद्यमान हैं और अपनी समस्त अस्वाभाविक इच्छाओंको उसके समर्पित कर दे। बस, यही उपासनाकी वास्तविकता है। यह प्राकृतिक नियम है कि प्रीति तथा नित्य सम्बन्ध उसीसे हो सकता है जो सर्वोत्कृष्ट हो और अपने स्वभावके अनुरूप हो, क्योंकि स्वभावकी एकताके बिना सम्बन्ध संभव नहीं है। सर्वोत्कृष्ट एक है और व्यक्ति अनेक हैं। सभीको उसे प्राप्त करना है। व्यक्तियोंके स्वभावमें समानता नहीं है, परंतु आवश्यकता समान है। स्वभावकी भिन्नताके कारण उसी एकमें अनेक प्रकारके दिव्य गुणोंकी स्थापना करना अनिवार्य है, इन सभी भावोंकी सम्भावना उसीके प्रति हो सकती है जो अनन्त हो और जो अनन्त सौन्दर्य एवं माधुर्यसे सम्पन्न हो, क्योंकि ऐश्वर्यके बिना सर्वोत्कृष्टता सिद्ध न होगी और माधुर्यके बिना वह सभीको अपना न सकेगा। इस दृष्टिसे प्रत्येक व्यक्तिकी उपासनाके प्रतीकमें भेद हो सकता है, जो उसने अस्वाभाविक स्वभावके अनुसार स्वीकार किया है, परंतु वास्तविकतामें कोई भेद नहीं हो सकता।

प्रेमका यह स्वभाव है कि वह प्रेमीके अस्वाभाविक भावों मिटाता जाता है और प्रेमास्पदके वास्तविक स्वभावसे उसे अभिन्न करता जाता है। इस कारण सभी प्रेमी अपने-अपने माने हुए स्वभावको मिटाकर प्रेमास्पदके वास्तविक स्वभावसे अभिन्न हो जाते हैं, जो सर्वोत्कृष्ट है और अवर्णनीय है। इसका अर्थ यह नहीं

है कि प्रेमियोंने अपने-अपने स्वभावके अनुरूप प्रेमास्पदमें जिन दिव्य गुणोंकी स्थापना की थी, वे सब गुण उसमें नहीं हैं। वे गुण तो हैं ही, परन्तु उतने ही नहीं हैं, अपितु अनन्त हैं। यदि प्रेमियोंके स्वभावके अनुरूप प्रेमास्पद न हो तो कभी उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता नहीं हो सकती। जिससे आत्मीयता नहीं होती उससे प्रेम नहीं हो सकता और जिससे प्रेम नहीं हो सकता उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यह नियम है कि जिसकी प्राप्ति नहीं होती उसकी आवश्यकता नहीं हो सकती।

जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है, उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। इस दृष्टिसे सभी व्यक्तियोंको सर्वोत्कृष्ट अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य सम्पन्न प्रेमास्पदकी प्राप्ति हो सकती है। प्रेमास्पदका वर्णन प्रेमियोंकी दृष्टिसे भले ही भिन्न-भिन्न प्रकारका हो, परन्तु प्रेमास्पद तो एक ही है। एक होनेपर भी अनन्त होनेके कारण अनेक प्रकारसे उसे प्राप्त किया जा सकता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभावके अनुसार उस अनन्तकी उपासना कर सकता है। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल तथा स्थायी होती जायगी त्यों-त्यों अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वतः मिटती जायँगी और ज्यों-ज्यों अस्वाभाविक इच्छाएँ मिटती जायँगी त्यों-त्यों प्रेमीका स्वभाव गलता जायगा और प्रेमास्पदसे अभिन्नता होती जायगी। जिस कालमें प्रेमी अपने सहित अपना सर्वस्व प्रेमास्पदको समर्पित कर देता है, उसी कालमें प्रेमी प्रेम होकर प्रेमास्पदसे अभिन्न हो जाता है। बस, यही उपासनाकी वास्तविकता है।

निःसंदेहता तथा प्रीति

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान जीवन विश्वास तथा संदेहका समूह है। संदेह वास्तविकत जाननेके लिये है और विश्वास प्रेमप्राप्तिके लिये। संदेह उसे नहं कह सकते जिसकी निवृत्ति न हो अर्थात् संदेहकी निवृत्ति अवश्य हो सकती है और उसकी निवृत्तिमें वास्तविकताका ज्ञान निश्चित है। विश्वास जिसपर होता है उससे नित्य-सम्बन्ध स्वाभाविक हो जाता है और नित्य-सम्बन्धसे प्रीति स्वतः जाग्रत् होती है, वह उससे अभिन्न कर देती है जिसकी वह प्रीति है। विश्वास हो और प्रीति न हो, प्रीति हो और प्राप्ति न हो यह सम्भव नहीं है अर्थात विश्वाससे प्रीतिका और प्रीतिसे प्राप्तिका होना अनिवार्य है।

विश्वास एकपर ही होता है, अनेकपर नहीं। संदेह प्रतीतिपर होता है, अदृश्यपर नहीं। जिसको जान लेते हैं उसको माननेकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि मानना उसीके सम्बन्धमें आवश्यक होता है जिसके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते हैं। जिसके सम्बन्धमें कुछ जानते हैं और कुछ नहीं भी जानते हैं उसके सम्बन्धमें संदेह होता है। इस दृष्टिसे विश्वास उसीपर करना है जिसके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते।

यदि पूछा जाय कि हम किसके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते हैं? तो कहना होगा कि उसीके सम्बन्धमें नहीं जानते जिसको इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके द्वारा देखा नहीं।

संदेह उसी पर होता है जिसको इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके

द्वारा जानते हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जिसे जानते हैं, उसपर संदेह क्यों होता है? तो कहना होगा कि एक वस्तुको इन्द्रियके द्वारा जैसी जानते हैं वही वस्तु बुद्धिके द्वारा वैसी नहीं है अर्थात् इन्द्रियोंके ज्ञानपर बुद्धिके ज्ञानसे संदेह होता है। जिसपर इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव होता है, उसीपर बुद्धिके ज्ञानका प्रभाव होता है। वस्तु भी एक है और जिसपर प्रभाव होता है वह भी एक है; परंतु वस्तुको देखनेके साधन अनेक हैं। यदि नेत्रसे पूछा जाय तो समस्त सृष्टिको रूप बतलायगा और यदि श्रोत्रसे पूछा जाय तो कहेगा कि शब्द ही सृष्टि है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय अपने ही विषयका प्रतिपादन करेगी, परंतु मन कहेगा कि सृष्टिमें सभी इन्द्रियोंके विषय हैं। मन और इन्द्रियोंके निर्णयपर बुद्धि कहेगी कि मन और इन्द्रियाँ जिनकी सत्ता स्वीकार करते हैं, वे सभी परिवर्तनशील हैं। ज्यों-ज्यों मन, इन्द्रिय आदिका प्रभाव मिटता जाता है और बुद्धिका प्रभाव होता जाता है त्यों-त्यों राग वैराग्यमें और भोग योगमें बदलता जाता है। जिस कालमें बुद्धिके ज्ञानका पूर्ण प्रभाव हो जाता है, उसी कालमें रागका अन्त हो जाता है। रागरहित होते ही जो भोगी था वह योगी हो जाता है। भोगी होनेपर अनेक प्रकारके अभाव प्रतीत होते हैं और योगी होनेपर चिर-शान्ति तथा आवश्यक सामर्थ्यका वह विकास होने लगता है, जो निःसंदेहता प्राप्त करानेमें समर्थ है। निःसंदेहता आते ही मृत्यु अमरत्वमें, जड़ता चिन्मयतामें और दुःख आनन्दमें बदल जाता है, यही वास्तविक जीवन है।

निःसंदेहता आ जानेपर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिका व्यापार

राग द्वेषरहित होने लगता है, क्योंकि निःसन्देहताके आते ही कामनाओंका अन्त हो जाता है, कामनाओंका अन्त होनेपर विषय इन्द्रियोंमें, इन्द्रियाँ मनमें, मन बुद्धिमें और बुद्धि अपने प्रकाशकमें विलीन हो जाती है। वास्तविकताका ज्ञान होनेपर इन्द्रिय, बुद्धि आदिका व्यापार-काल हो अथवा विश्राम-काल हो, उससे वास्तविक ज्ञानमें कोई भेद नहीं होता। जिस प्रकार जलका ज्ञान होनेपर चाहे समुद्र शान्त हो या तरंगित, समुद्र और लहरका कोई भेद नहीं रहता, उसी प्रकार वास्तविकताका ज्ञान होनेपर चाहे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिका व्यापार हो अथवा वे सभी सम हों, वास्तविकता ज्यों-की-त्यों रहती है।

दृश्यकी स्वीकृतिमें मृत्युका दर्शन निहित है और उसकी अस्वीकृतिमें अमरत्वकी प्राप्ति स्वतः सिद्ध है। दृश्यकी वास्तविकता जान लेनेपर और दृश्यकी अस्वीकृतिमें भी निःसंदेहता आ जाती है। संदेह तभीतक रहता है जबतक दृश्यको स्वीकार करते हैं पर उसकी वास्तविकता नहीं जानते अथवा दृश्यको अस्वीकार कर अमरत्वको प्राप्त नहीं होते।

विश्वास, सम्बन्ध और प्रीति, इन तीनोंकी सार्थकता एकहीमें होनेपर होती है, अनेकमें नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि प्रीति अनेकमें एकहीका दर्शन करा सकती है, कारण कि विश्वास करने योग्य एक ही है और अनेकमें भी उसीकी सत्ता है अथवा यों कहो कि वह एक ही अनेक रूपमें प्रतीत होता है। यह प्रीतिकी महिमा है कि वह अनेकतामें एकताका दर्शन कराती है, क्योंकि प्रीतिने उससे भिन्न किसी अन्यको देखा ही नहीं जिसकी वह प्रीति है। इस दृष्टिसे

प्रीति सदैव एकहीमें निवास करती है और निःसंदेहता आ जाने-पर भी एकहीसे अभिन्नता होती है। अतः निःसंदेहता अथवा विश्वासपूर्वक किसी एकहीको प्राप्त करना है।

यदि संदेह समस्त दृश्यपर हो तभी निःसंदेहता सम्भव है, क्योंकि दृश्य अनेक होनेपर भी स्वरूपसे एक है और विश्वास उसी एकपर हो सकता है जिसकी इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको प्रतीति नहीं हुई। जो दृश्यके किसी अंशपर तो संदेह करते हों और किसी अंशपर विश्वास करते हों, उन्हें निःसंदेहता नहीं मिल सकती और जो प्रतीतिके आधारपर विश्वास करना चाहते हों उनमें अविचल विश्वास नहीं हो सकता।

जिन साधकोंको निःसंदेहतापूर्वक अनन्तसे अभिन्न होना हो, वे समस्त दृश्यपर संदेह करें, किसी अंशमात्रपर नहीं और जिन्हें विश्वासके द्वारा अनन्तसे अभिन्न होना हो वे उसपर विश्वास करें जिसकी कभी प्रतीति नहीं हुई। जिसकी कभी प्रतीति नहीं हुई उस पर विश्वास करते ही प्रतीतिमात्रसे साधक विमुख हो जाता है। विमुख होते ही जिसपर विश्वास किया था उससे नित्य-सम्बन्ध और उसकी प्रीति स्वतः जाग्रत् हो जाती है, जो विश्वास-कर्ताको उससे अभिन्न करनेमें समर्थ है, जिसपर उसने विश्वास किया था।

विश्वासी और जिज्ञासु दोनों साधकोंमें अन्तर केवल इतना है कि जिज्ञासु दृश्यके स्वरूपको जानकर और विश्वासी किसी एकको मानकर दृश्यसे सम्बन्ध-विच्छेद करता है। दृश्यसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर दोनोंकी समान स्थिति हो जाती है। अन्तर केवल इतना होता है कि विश्वासीका अस्तित्व उसीकी प्रीति हो जाता है कि जिसपर

उसने विश्वास किया था और जिज्ञासुका अस्तित्व जिज्ञासा होकर उसीसे अभिन्न हो जाता है जिसकी उसे जिज्ञासा थी।

जिज्ञासा सदैव जीवनकी होती है और लालसा सदैव रसकी होती है, पर ये दोनों जिसके प्रति होती हैं वह एक ही है, क्योंकि प्रत्येक साधककी माँग वास्तवमें रस और जीवन दोनोंहीकी होती है। ऐसी माँग किसीकी नहीं होती कि रस हो और जीवन न हो अथवा जीवन हो और रस न हो। अतः जीवन और रसकी उपलब्धि जिससे होगी वह भी एक ही होना चाहिये, क्योंकि रस और जीवनकी एक ही माँग जब सभी साधकोंकी है, तव साध्य दो नहीं हो सकते। यह सम्भव नहीं है कि रस किसी औरमें मिले तथा जीवन किसी औरमें मिले। इस दृष्टिसे जिज्ञासु जिज्ञासा होकर जिससे अभिन्न होता है, विश्वासी भी प्रीति होकर उसीसे अभिन्न होता है। इतना ही नहीं, जीवन और रसका विभाजन नहीं हो सकता अर्थात् जीवनमें रस और रसमें जीवन है। जीवन नित्य है और रस अनन्त। जिज्ञासा जीवनका प्रतीक है और प्रेम रसका।

सन्देह उसे नहीं कहते जिसकी निवृत्ति न हो, जीवन उसे नहीं कहते जिसकी प्राप्ति न हो और आवश्यकता उसे नहीं कहते जिसकी पूर्ति न हो। अतः संदेहकी निवृत्ति, जीवनकी प्राप्ति और आवश्यकताकी पूर्ति अनिवार्य है। यह तभी सम्भव है जब संयोगसे उत्पन्न होनेवाली आसक्तिका और मृत्युका अन्त हो जाय तथा नित्य योगसे प्राप्त होनेवाले अमरत्वकी और प्रीतिकी प्राप्ति हो जाय। अतएव संदेहकी निवृत्ति और प्रेमकी प्राप्तिमें ही वास्तविक जीवन निहित है।

कर्तव्यनिष्ठा और स्मृति

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राणीमें कुछ-न-कुछ करनेकी रुचि स्वभावसे ही विद्यमान है। उसकी पूर्तिके लिये साधकको सबसे प्रथम वर्तमान कार्यको सुन्दरतापूर्वक करना है। वर्तमान कार्यका अर्थ है जिसके बिना किये न रह सके और जिसके करनेसे दूसरोंके अधिकार सुरक्षित हो जायँ।

अब यह प्रश्न होता है कि सुन्दरतापूर्वक कार्य करनेका वास्तविक अर्थ क्या है? तो कहना होगा कि जो प्रवृत्ति पवित्र भावसे भावित हो और जो भाव विवेकके प्रकाशसे प्रकाशित हो, उसी प्रवृत्तिको सुन्दरतापूर्वक की हुई प्रवृत्ति कह सकते हैं; अतः हमें अपने वर्तमान कार्यको सुन्दरतापूर्वक करनेके लिए सर्वप्रथम निज-विवेकके प्रकाशमें भावकी शुद्धि करनी होगी, स्वार्थभावका त्याग करना होगा, अर्थात् हम जो भी कार्य करें उससे किसीका अहित न हो, अपितु उसमें जिनसे उस कार्यका सम्बन्ध है उनका हित तथा प्रसन्नता निहित हो। ऐसा करनेसे करनेकी रुचिका अन्त होगा और स्वभाव से ही जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा जाग्रत् होगी। जिज्ञासाकी जागृति स्वयं अपनी पूर्तिमें समर्थ है, क्योंकि जिज्ञासा उसीकी होती है जिससे स्वरूपकी एकता है अर्थात् जिससे किसी प्रकारकी दूरी नहीं है। जिज्ञासाकी पूर्तिमें ही वास्तविक जीवन है। इस दृष्टिसे वर्तमान कार्यको सुन्दरतापूर्वक करना अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि बिना कार्य किये हुए क्या

जिज्ञासाकी जागृति नहीं हो सकती ? तो कहना होगा कि उन साधकोंको हो सकती है जिनमें करनेकी रुचि विद्यमान नहीं है और जिन्हें जीवनहीमें मृत्युका अनुभव हो गया है। उन जिज्ञासुओं-द्वारा न तो किसीका अहित होता और न किसीके अधिकारका अपहरण ही होता है, क्योंकि वे तो अपना सर्वस्व सभीके हितमें समर्पण कर देते हैं। यहाँतक कि उनकी देह आदिमें भी ममता नहीं रहती। उनकी दृष्टि बिना ही दृश्यके स्थिर हो जाती है। उनका चित्त बिना ही आधारके शान्त हो जाता है। अथवा यों कहो कि उनकी इन्द्रियाँ विषयोंसे विमुख होकर मनमें विलीन हो जाती हैं, मन निर्विकल्प होकर बुद्धिमें विलीन हो जाता है और बुद्धि समतामें स्थित हो जाती है, ऐसा होते ही सीमित अहं-भाव गल जाता है और वास्तविक जीवनसे उनकी अभिन्नता हो जाती है। उन साधकोंपर कर्तव्यका कोई दायित्व नहीं रहता। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे कर्तव्यनिष्ठ नहीं होते। उनमें कर्तव्यनिष्ठा साधनरूपसे नहीं रहती, अपितु उनका स्वभाव हो जाती है। जिज्ञासा कर्तव्यनिष्ठाकी विरोधिनी नहीं है, अपितु पोषक है, क्योंकि कर्तव्यनिष्ठा ही जिज्ञासाको जन्म देती है। इस दृष्टिसे कर्तव्यनिष्ठ प्राणी जिज्ञासु हो जाता है और जिज्ञासु स्वभावसे ही कर्तव्यनिष्ठ होता है। अन्तर केवल इतना है कि जो प्रथम जिज्ञासु होता है वह जिज्ञासा-पूर्तिके अनन्तर स्वभावसे ही कर्तव्यनिष्ठ हो जाता है और जो कर्तव्यनिष्ठ होता है वह करनेके रागसे रहित होते ही जिज्ञासु हो जाता है। इस दृष्टिसे सुन्दरतापूर्वक किया हुआ वर्तमान कार्य राग-निवृत्तिका हेतु है। हाँ, यह अवश्य है कि एक कार्यका अन्त होनेपर उससे तो सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये

और किसी अन्य कार्यका चिन्तन नहीं होना चाहिये। कार्यका चिन्तन न रहनेसे स्वभावसे ही शान्ति, विचार और प्रेमकी प्राप्ति होगी। शान्तिसे सामर्थ्य, विचारसे अमरत्व और प्रेमसे रसकी उपलब्धि होगी, जो सभीको अभीष्ट है। कार्यजनित सुखका त्याग हो और फलकी आशा न हो, तभी शान्ति सुरक्षित रह सकेगी। शान्तिके सुरक्षित रहनेसे ही विचार तथा प्रेमका उदय होगा। शान्तिको सुरक्षित रखनेके लिये शान्तिमें रमण न करना होगा। यदि शान्तिमें रमण किया गया तो केवल दुःख दब जायगा, पर विचार तथा प्रेमका उदय नहीं होगा। अतः शान्तिको सुरक्षित रखना है, पर उसका भोग नहीं करना है अर्थात् शान्तिमें आबद्ध नहीं होना है। शान्तिसे असङ्ग होते ही अमरत्वकी प्राप्ति स्वतः हो जायगी, क्योंकि शान्तिसे अतीत जीवन है मृत्यु नहीं; चिन्मयता है जड़ता नहीं, आनन्द है दुःख नहीं, रस है नीरसता नहीं।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी कार्य करनेके साधन हैं। उनके सदुपयोगमें ही सफलता है। उनकी ममतामें ही अपना विनाश है। अतः जो कार्य करनेके साधन हैं, उनसे सुन्दरतापूर्वक कार्य करो। कार्यके अन्तमें इन्द्रियोंको मनमें और मनको बुद्धिमें विलीन हो जाने दो। ऐसा होते ही चिन्मय जीवनमें प्रवेश होगा। वह तब सम्भव होगा जब कार्य तो चाहे जितना हो पर कार्यका चिन्तन और फलकी आशा न हो। यह सभी जानते हैं कि नाव जलमें चलती है पर जब उसमें जल भर जाता है, तब नाव डूब जाती है। इसी प्रकार समस्त कार्य मन, बुद्धिद्वारा ही होते हैं, परंतु जब कार्य मनमें भर जाता है तब कर्ता डूब जाता है।

वर्तमान कार्यमें मन, बुद्धिको लगा दो, पर कार्यके अन्तमें बुद्धिको सम और मनको निर्विकल्प हो जाने दो, क्योंकि निर्विकल्प मनमें ही प्रीतम निवास करता है और बुद्धिकी समतासे ही अनेकता एकतामें विलीन होती है अथवा यों कहो कि जब मन और बुद्धिमेंसे कार्य निकल जाता है, तब वे स्वतः चिन्मय हो जाते हैं—उनका चिन्मय जीवनमें प्रवेश हो जाता है। इस दृष्टिसे कार्यके चिन्तनका साधकके जीवनमें कोई स्थान नहीं है, अपितु प्रत्येक कार्यको उस अनन्तके नाते अनन्तकी प्रसन्नताके लिये सुन्दरता-पूर्वक कर देना है। यही उनकी वास्तविक पूजा है।

इस दृष्टिसे साधनयुक्त जीवनके दो भाग हो गये—एक तो वर्तमान कार्यको सुन्दरतापूर्वक करना और दूसरा कार्यके अन्तमें प्रीतमकी मधुर स्मृतिका उदय होना।

अब यदि कोई यह कहे कि कार्यमें और मधुर स्मृतिमें किसकी महत्ता अधिक है, तो कहना होगा कि कर्ता एक है और उसका उद्देश्य एक है, पर उस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये साधन दो भागोंमें विभाजित है। उद्देश्यकी एकताके कारण दोनोंकी महत्ता समान है, क्योंकि जिसकी स्मृति होती है उसीका तो कार्य करना है। अतः कार्यके अन्तमें स्मृतिकी जागृति स्वाभाविक है। स्मृति और कार्यमें अन्तर इतना है कि स्मृति अपने-आप उदित होती है और कार्य करना पड़ता है, परंतु करनेका राग रहते हुए स्मृति स्वतः उदित नहीं होती। अतएव स्मृतिकी जागृतिके लिये करनेका राग मिटाना आवश्यक है और वह सुन्दरतापूर्वक कार्य करनेसे ही मिट सकता है। सुन्दरतापूर्वक कार्य करना स्मृतिकी भूमि है, और कुछ नहीं।

जब स्मृति इतनी सबल हो जाती है कि अन्यकी विस्मृति हो जाय, तब वह स्वतः उसमें विलीन हो जाती है जिसकी वह थी। कोई व्यक्ति उसे भले ही न जाने अथवा न माने, पर रागरहित होते ही किसीकी स्मृति स्वतः जाग्रत् हो जाती है और जिसकी स्मृति जाग्रत् होती है, उसीकी प्राप्ति होती है तथा वही सबका लक्ष्य भी है।

अब यदि कोई यह कहे कि राग-निवृत्तिके पश्चात् तो सभी दुःख मिट जाते हैं, फिर किसीकी स्मृति क्यों आवश्यक है? तो कहना होगा कि राग-निवृत्ति होनेपर उन सभी दुःखोंका अन्त हो जाता है, जो सुखकी दासतासे उत्पन्न हुए थे, परंतु 'मैं वीतराग हूँ,' 'मैं शान्त हूँ', 'मुझे कुछ नहीं चाहिये', ये जिस अहंकी ध्वनि हैं, वह शेष रहता है। उसका नाश किसीकी स्मृतिसे ही होता है। उसीके नाते साधक को प्रत्येक कार्य करना है और कार्यके अन्तमें उसीकी स्मृति बनकर उससे अभिन्न होना है। यह तभी सम्भव होगा जब साधक प्रत्येक वर्तमान कार्यको सर्वोत्कृष्ट कार्य जानकर पूरी शक्ति लगाकर, पवित्र भावसे लक्ष्यपर दृष्टि रखते हुए करे और कार्यके अन्तमें कुछ काल शान्तिमें निवास कर करनेके श्रमसे रहित हो जाय। ऐसा होते ही करनेका राग मिट जायगा और प्रियकी वह स्मृति जाग्रत होगी, जो प्रियसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। उसी प्रियसे साधककी जातीय तथा स्वरूपकी एकता है।

कामना-निवृत्तिका महत्त्व

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि कामना-उत्पत्तिका दुःख और पूर्तिका सुख साधकका उस जीवनमें प्रवेश नहीं होने देता जो कामनाओंकी निवृत्तिसे प्राप्त होता है। अब यदि कोई कहे कि सुख-दुःखसे अतीत भी क्या कोई जीवन है? तो कहना होगा कि क्या सुख-दुःख जीवन है? यदि सुख-दुःख जीवन है तो मृत्यु क्या है? अतः वास्तविक जीवन तो सुख-दुःखसे अतीत ही है।

सुख-दुःखसे अतीतके जीवनमें प्रवेश उन्हींका हो सकता है जो सुखलोलुपतासे अपनेको ऊपर उठा सकें। इसके लिये साधकको सुखकी वास्तविकताको जानना होगा। अब यदि इस प्रश्नपर विचार किया जाय कि सुख-दुःख क्या है? तो कहना होगा कि संकल्प-पूर्तिका ही दूसरा नाम सुख है और संकल्प-उत्पत्तिका ही नाम दुःख है। संकल्प-उत्पत्तिके पश्चात् ही उसकी पूर्तिका प्रश्न उत्पन्न होता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि संकल्प-पूर्तिके सुखके लिये संकल्पकी उत्पत्तिका दुःख अनिवार्य है। अतः जिसे सुख कहते हैं, उसकी भूमि दुःख है।

अब संकल्प-पूर्तिके परिणामपर विचार करना है। जिस वस्तु और व्यक्ति आदिके द्वारा संकल्प पूरा होता है, उसमें आसक्ति होना स्वाभाविक है। प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति परिवर्तनशील तथा

क्षणभङ्गुर है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्तिके परिणाममें भी भयंकर दुःख है। जिस सुखका आरम्भ दुःखसे होता है और जो सुख अन्तमें भयंकर दुःखमें बदल जाता है, उसकी आशा करना कहाँ-तक विवेकयुक्त है? अर्थात् सुखकी आशा अविवेक-सिद्ध है। सुखकी आशा मिटते ही अनावश्यक संकल्प मिट जाते हैं और आवश्यक संकल्प स्वतः पूरे होने लगते हैं। परंतु इस प्रकार होने-वाला संकल्प-पूर्तिका सुख साधकको बाँध नहीं पाता, क्योंकि उसकी दृष्टिमें सुखका वह महत्त्व मिट जाता है, जिसके मिटते ही संकल्पोंकी निवृत्ति हो जाती है। इसी अवस्थामें जिज्ञासा और प्रिय लालसाकी जागृति तथा शान्तिकी उपलब्धि भी होती है। संकल्प-पूर्तिका लालच रहते हुए न तो कोई जिज्ञासु हो सकता है, न प्रेमी हो सकता है और न योगी ही हो सकता है। आज यदि योगी योगसे प्रेमी प्रेमसे और जिज्ञासु निःसंदेहता अर्थात् तत्त्वज्ञानसे विमुख है तो उसका एकमात्र कारण है कामनापूर्तिके साथ-साथ योग, ज्ञान तथा प्रेम-प्राप्तिकी आशा। यद्यपि योग भोगकी अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है; परंतु कामना-पूर्तिका लालच योग नहीं होने देता।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या कामना-पूर्तिके लालचका जीवनमें कोई स्थान नहीं है? तो कहना होगा कि कामना-पूर्तिका स्थान भले ही हो पर उसके लालचका कोई स्थान नहीं है; क्योंकि जिन कामनाओंका पूरा होना अनिवार्य है, वे तो स्वभावसे ही पूरी हो जायँगी, पर उनकी पूर्तिका लालच तो नवीन कामनाओंको भी जन्म देगा। अतः वह न तो योग होने देगा, न विचारका उदय

होने देगा और न प्रेमका उदय ही होने देगा। इस दृष्टिसे कामना-पूर्तिके लालचका साधकके जीवनमें कोई स्थान नहीं है।

जब कामना-पूर्ति और अपूर्ति समान हो जाती है, तब साधक सुगमतापूर्वक कामनाकी अपूर्तिके दुःखका तथा कामनाकी पूर्तिके सुखका सदुपयोग कर सुख-दुःखसे अतीतके जीवनमें प्रविष्ट हो जाता है। साधकको सुख-दुःखका सदुपयोग करना है, उनमें आबद्ध नहीं होना है। उनमेंसे किसी एकका सदुपयोग करनेपर दोनोंका सदुपयोग हो जाता है, क्योंकि सुख-दुःख दोनों स्वरूपसे एक हैं। दुःखका सदुपयोग शरीर तथा संसारके स्वरूपके ज्ञानमें है, सुखकी दासतामें नहीं और सुखका सदुपयोग सेवामें है, उपभोगमें नहीं। यह नियम है कि जिसका सदुपयोग कर दिया जाता है उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और जिससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है उसका अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। अतः सुख-दुःखके सदुपयोगसे सुख-दुःख मिट जाते हैं, उनके मिटते ही कामना निवृत्त हो जाती है। कामना-निवृत्तिमें ही चिर-शान्ति, जिज्ञासाकी पूर्ति और प्रेमकी प्राप्ति निहित है।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या कामना-निवृत्तिमें जीवन है तो कहना होगा कि कामना-उत्पत्तिसे पूर्व और पूर्तिके अन्तमें जो जीवन है वही कामना-निवृत्तिमें है। कामनाकी उत्पत्तिमें तो अभाव है और पूर्तिमें जड़ता है, वास्तविक जीवन तो कामना-निवृत्तिमें ही है। पर इस रहस्यको वे ही जान पाते हैं जो कामनाकी उत्पत्तिसे पूर्वके जीवनका अनुभव कर लेते हैं। बड़ी-से-बड़ी कामनाकी पूर्तिके पश्चात् साधक उसी स्थितिमें आता है जो कामना-उत्पत्तिसे पूर्व

थी। इससे यह सिद्ध हुआ कि कामनाकी उत्पत्तिसे पूर्वका जीवन स्वाभाविक जीवन है और कामनाकी उत्पत्ति तथा पूर्तिका जीवन अस्वाभाविक है अथवा यों कहो कि वह जीवन नहीं, मृत्यु है।

कामना-उत्पत्ति और पूर्ति ही उस अनन्तमें जगत्का दर्शन कराती है और कामना-निवृत्ति ही उस अनन्तसे अभिन्न करती है। कामनाकी उत्पत्ति और पूर्तिसे आसक्ति तथा कामनाकी निवृत्तिसे अनुरक्ति प्राप्त होती है। अथवा यों कहो कि कामनाकी उत्पत्ति और पूर्ति जगत्की आसक्ति उत्पन्न करती है तथा कामनाकी निवृत्ति अनन्तकी प्रीति जाग्रत् करती है। आसक्तिका अन्त होते ही जिज्ञासाकी पूर्ति और प्रीतिकी जागृति स्वतः सिद्ध है। प्रीतिकी जागृति समस्त विश्वमें अपने प्रीतमका ही दर्शन कराती है; क्योंकि आसक्ति प्रीतममें जगत्का और प्रीति जगत्में प्रीतमकी दर्शन कराती है। बस, यही आस्तिकवाद और नास्तिकवादका अन्तर है। नास्तिक जिस जगत्को अपनी भोगसामग्री मानता है आस्तिक उस जगत्को प्रीतम मानकर उसकी पूजा करता है। इस दृष्टिसे कामना-उत्पत्ति और पूर्तिका जीवन नास्तिक जीवन है और कामना-निवृत्तिमें आस्तिक जीवन है। हाँ, आस्तिक जीवन नास्तिक जीवनका प्रकाशक है, नाशक नहीं। परंतु आस्तिकताकी लालसा नास्तिकताको खाकर आस्तिक बनानेमें समर्थ है। वह आस्तिकताकी लालसा कामना-निवृत्तिसे ही पुष्ट होती है।

कामना-निवृत्तिके लिये कामना-पूर्तिके लालचका त्याग अनिवार्य है। यद्यपि कामना-पूर्ति प्राकृतिक विधानपर निर्भर है—कामना-पूर्तिके लालचपर नहीं, परन्तु साधक अनादरकर कामनापूर्तिका

लालच करता है, जिसका उसके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

कामनापूर्ति श्रम तथा संग्रहसाध्य है और कामना-निवृत्ति श्रमरहित है, क्योंकि कामना-निवृत्ति के लिये किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है, केवल प्राप्त विवेकके प्रकाशमें कामनाओंके उद्गमस्थानको जानना है। कामनाओंका उद्गमस्थान है सीमित अहंभाव, जिसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि वह अविवेकसिद्ध है। अतः कामनाओंकी उत्पत्ति उससे होती है जिसका अस्तित्व नहीं है अथवा यों कहो कि कामनाओंकी उत्पत्ति ही कामनाओंका ऐसा अस्तित्व है, जो कामनाओंकी निवृत्ति होनेपर शेप नहीं रहता। इस दृष्टिसे कामनानिवृत्तिकी लालसा ही कामनाओंको खाकर जिज्ञासाके रूपमें बदल जाती है। जिज्ञासाकी पूर्ति स्वाभाविक है; क्योंकि जिज्ञासा उसीकी होती है जिससे किसी प्रकारकी दूरी नहीं है और जो अनन्त तथा नित्य है।

आवश्यक कामनाओंकी पूर्ति प्राकृतिक विधानसे स्वतः हो जाती है और कामनाओंकी निवृत्ति विवेकसिद्ध है। विवेक उस अनन्तकी अहेतुकी कृपासे सभी साधकोंको स्वतः प्राप्त है, क्योंकि वह किसी प्रयत्नका फल नहीं है, अपितु विवेकसे ही सभी प्रयत्न सिद्ध होते हैं। विवेकका सदुपयोग करते ही कामनाओंकी निवृत्ति, जिज्ञासाकी पूर्ति और प्रेमकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

---

(५६)

जीवनका परम पुरुषार्थ

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि मान जीवन बड़े ही महत्त्वका है, क्योंकि इस जीवनमें ही प्राणी उत्कृष्ट भोगोंके लिये, नित्य जीवनके लिये और प्रेम-प्राप्तिके लिये साधन कर सकता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति, तप एवं पुण्यकर्म आदिसे उत्कृष्ट भोग और विवेकसे नित्य जीवन और समर्पणसे प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। इतना ही नहीं, हम अपनेको इतना सुंदर बना सकते हैं कि हमारी आवश्यकता सभीको हो और हमें किसीकी आवश्यकता न हो, क्योंकि वस्तु और व्यक्तिकी आवश्यकता शरीर-तक ही सीमित है और शरीर संसारकी वस्तु है, अपनी नहीं। इस दृष्टिसे कोई भी वस्तु तथा व्यक्ति अपने काम नहीं आ सकता और शरीरको भी कोई वस्तु तथा व्यक्ति आदि सदैव सुरक्षित नहीं रख सकते। केवल क्षणिक कामना-पूर्तिका सुख वस्तु और व्यक्तिके द्वारा मिल सकता है; वह भी तब जब अविवेकसे अपनेमें कामना उत्पन्न कर ली जाय; क्योंकि कामनारहित होनेपर तो कामना-पूर्तिका भी कोई महत्त्व नहीं रहता।

अब कोई यह कहे कि वस्तुओंके बिना तो प्राण नहीं रह सकते, तो कहना होगा कि प्राण तो वस्तुओंके रहते हुए भी नहीं रहेंगे, क्योंकि जन्मसे मृत्यु आरम्भ हो जाती है। इस दृष्टिसे वस्तुओंका लोभ और व्यक्तियोंका मोह कुछ अर्थ नहीं रखता। हाँ, यह अवश्य

है कि उत्पादित वस्तुओंका व्यक्तियोंकी सेवामें उदारतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। इस दृष्टिसे प्राणीके उदारभावकी आवश्यकता समस्त विश्वको हो सकती है। उदारता स्वभाव है, कोई ऐसी वस्तु नहीं जो साधन-साध्य हो।

प्राकृतिक विधानका आदर करनेपर उदारता प्राप्त होती है। जिस प्रकार पृथ्वीपर सभी पौधे उगते तथा आश्रय पाते हैं, जल सभीकी प्यास बुझाता है, सूर्य सभीको प्रकाश देता है, वायु सभीको साँस लेने देती है और आकाशसे सभीको अवकाश मिलता है, उसी प्रकार उदार स्वभावसे सभीको स्नेह तथा सहयोग मिलता है।

स्नेहकी माँग प्राणिमात्रको रहती है, क्योंकि स्नेहके बिना जीवनमें व्यापकता नहीं आती। सच तो यह है कि हमारा निर्माण भी किसीके स्नेहसे और उदारतासे ही हुआ है। अतः स्नेह एवं उदारतासे हमारी जातीय एकता है। जिससे हमारी जातीय एकता है, हम उससे विमुख हो गये हैं, दूर नहीं। विमुखता अपना ही बनाया हुआ दोष है, किसी औरका नहीं। जब हम अपने बनाये हुए दोषका त्याग कर देंगे, तब हमारा समस्त जीवन विवेक और प्रेमसे परिपूर्ण हो जायगा। विवेकपूर्वक हम अनित्य जीवनसे विमुख होकर नित्य जीवन प्राप्त कर सकते हैं। प्रेमी होकर प्रेमास्पदको रस प्रदान कर सकते हैं और प्राप्त बलके सदुपयोगसे उत्कृष्ट भोग भी प्राप्त हो सकते हैं; परन्तु भोगोंकी प्राप्ति किसी भी विवेकी तथा प्रेमीको अभीष्ट नहीं है; क्योंकि भोगका परिणाम रोग तथा शोक है अथवा यों कहो कि भोगकी प्राप्ति तो पशु-पक्षी

आदि अन्य योनियोंमें भी हो सकती है। अतः भोगप्राप्ति विवेकयुक्त जीवनका उद्देश्य नहीं है। विवेकयुक्त जीवनका उद्देश्य तो केवल कामनाओंकी निवृत्ति, जिज्ञासाकी पूर्ति और प्रेमकी प्राप्ति ही हो सकता है। कामनाओंकी निवृत्तिमें नित्य-योग और चिर-शान्ति तथा जिज्ञासाकी पूर्तिमें अमरत्वकी प्राप्ति होती है। परंतु जिसे भोग अभीष्ट नहीं है उसे ही नित्य-योग और अमरत्व प्राप्त होता है। जो अमरत्वकी भी लालसा नहीं रखता उसे प्रेमकी प्राप्ति होती है। अमरत्वका महत्त्व भी तभीतक है जबतक प्राणी कामनाओंके कारण जन्म और मृत्युमें आबद्ध है। प्राप्त विवेकके सदुपयोगसे कामनाओंका अन्त वर्तमानमें ही हो सकता है।

पुण्यकर्म आदिसे उत्कृष्ट भोग और विवेकसे अमरत्व प्राप्त हो सकते हैं। कर्म करनेकी सामर्थ्य और विवेक तो अनन्तकी अहैतुकी कृपासे स्वतः प्राप्त है; परन्तु प्रेम-प्राप्तिके लिये तो हमें उस अनन्तके समर्पित होना पड़ेगा। उसके लिये हमें उनकी दी हुई सामर्थ्य, योग्यता आदिको केवल उन्हें ही समर्पित करना होगा। जिस प्रकार शिशु माँकी उपार्जित वस्तुओंको माँसे उत्पन्न किये हुए हाथोंके द्वारा ही जब माँके भेंट कर देता है, तब माँ प्रसन्न हो जाती है। बेचारे बालकके पास अपनी कोई वस्तु नहीं है, सब कुछ माँसे ही मिला है। उसी प्रकार हमें भी सब कुछ उस अनन्तकी अहैतुकी कृपासे ही मिला है। अतः हमें उनकी दी हुई प्रत्येक वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यको उन्हींसे प्राप्त हुए विवेकपूर्वक उन्हींको भेंट कर देना है तथा उनके विश्वास, प्रेम और सम्बन्धको ही अपना अस्तित्व मानना है। ऐसा होते ही जो हमें प्रेम प्राप्त होता है उसी प्राप्त

प्रेमसे हम उस अनन्तको रस प्रदान कर सकते हैं। जिस प्रकार माँके द्वारा प्राप्त स्नेहसे ही शिशु माँको रस प्रदान करता है उसी प्रकार हम शिशुकी भाँति उस अनन्तके दिये हुए प्रेमसे ही उन्हें आह्लादित कर सकते हैं। कारण कि विवेकयुक्त जीवनका निर्माण उनकी अनिर्वचनीय, अनुपम और अहैतुकी कृपाशक्तिने उन्हें प्रेम प्रदान करनेके लिये ही किया है। इस दृष्टिसे जीवनका मुख्य उद्देश्य प्रेम-प्राप्ति है। वह प्रेम तभी प्राप्त होगा जब हम उनकी कृपाका आश्रय लेकर अपनेको उन्हींके समर्पित कर दें। इस बातके लिये चिन्तित न हों कि हम कैसे हैं? जैसे भी हैं उनके हैं। वे जैसे भी हैं अपने हैं। उनकी कृपा स्वयं हमें उनसे प्रेम करनेके योग्य बना लेगी। हमें तो केवल उनकी कृपाको अपना लेना है। उनकी गुणमयी माया तो प्राणियोंको मोहित करती है। परन्तु उनकी कृपाशक्ति स्वयं उन शक्ति-मान्‌को मोहित कर देती है। अतः उनकी कृपाका आश्रय लेकर जो एक बार यह कह देता है कि 'मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो' बस, वे सदाके लिये उसके हो जाते हैं। यही इस जीवनका अन्तिम पुरुषार्थ है।

असङ्गता और प्रेम

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि जिन मान्यताओंको हम अपनेमें स्वीकार कर लेते हैं वे ही सीमित अहंभावके स्वरूपमें भासने लगती हैं। यदि हमने अपनेको देह मान लिया तो देह ही हमें अपना स्वरूप मालूम होने लगेगा अर्थात् हम देहके अस्तित्वको ही अपना अस्तित्व मानने लगेंगे। उसी प्रकार जितनी ऐसी मान्यताएँ हैं, जिनकी अपनेमें अभेद-भावसे स्थापना कर ली जाती है, वे सभी हमें अपने अस्तित्वके रूपमें मालूम होती हैं और हम अपनेको सीमित मानकर अनेक प्रकारकी ममताएँ उत्पन्न कर लेते हैं, क्योंकि जो सीमित है उसे अपनेको जीवित रखनेके लिये वस्तु एवं व्यक्ति आदिकी अपेक्षा हो जाती है। फिर वह उनकी दासतामें आबद्ध हो जाता है और उनके नष्ट होनेपर क्षुब्ध होने लगता है। वस्तु-व्यक्ति आदिके बने रहनेपर अपनेको अभिमानी बनाता है और मिटनेपर दीन तथा अनाथ मानता है अर्थात् दीनता और अभिमानकी अग्निमें दग्ध होता रहता है।

सीमित अहंभाव अनेक प्रकारकी मन्यताओंका समूह है और परिस्थिति अनेक प्रकारकी ममताओंका केन्द्र है। यह नियम है कि अहंताके अनुरूप ही ममता उत्पन्न होती है। अतः जैसा हमारा अहं होता है उसीके अनुरूप 'मम' होता है। 'अहं' और 'मम' का सम्बन्ध ही भोग है, जो अनेक प्रकारके रोग तथा शोकको उत्पन्न करता है।

भोगसे विमुख होकर योगके सम्मुख होनेके लिये यह जानना आवश्यक हो जाता है कि जिनसे हमारी ममता है उन्हें क्या देना

शेष है ? यदि जो देना था वह दे दिया और लेनेकी आशाका त्याग कर दिया है तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भोग योगमें बदल जायगा। भोग जीवनकी अस्वाभाविक अवस्था है और योग जीवनकी स्वाभाविकता है। अस्वाभाविकता तो प्राणीको जड़ता, परतंत्रता, शक्तिहीनता आदि अनेक प्रकारके अभावोंमें आबद्ध करती है और स्वाभाविकता सामर्थ्य, चिन्मयता तथा स्वाधीनताकी ओर गतिशील करती है। इस दृष्टिसे भोगका योगमें परिवर्तन करना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि अस्वाभाविकताका विनाश स्वाभाविक है और स्वाभाविकता अविनाशी है।

अब यह देखना है कि सीमित अहंभावका स्वरूप क्या है ? तो कहना होगा कि जिनसे हमारी ममता है उनके अधिकारोंका समूह और अपने अधिकारकी लालसा ही सीमित अहंभाव है। किसी-न-किसी दृष्टिसे सभीके प्रति हमारी ममता है, क्योंकि देहकी ममतामें ही सभीकी ममताएँ निहित हैं और देहका विश्वसे विभाजन हो नहीं सकता, अतः सभीके प्रति ममता स्वतः सिद्ध है। इस दृष्टिसे हमें क्रियात्मकरूपसे और भावरूपसे सभीके अधिकारोंको सुरक्षित रखना है। क्रिया भले ही सीमित हो, पर भाव तो विभु हो ही सकता है। अतः क्रियात्मकरूपसे सेवा भले ही सीमित हो पर किसीका भी बुरा न चाहना इस भावका विभु होना संभव है। यह नियम है कि जो किसीका बुरा नहीं चाहता उसके हृदयमें सभीका हित विद्यमान रहता है।

जिनसे ममता है, उनके अधिकारकी रक्षा करनेसे ही उनके प्रति रागकी निवृत्ति हो सकती है और अपने अधिकारके त्यागसे ही उनसे असङ्गता हो सकती है। रागरहित होकर जब हम सब ओरसे

विमुख हो जाते हैं, तब नित्य योग स्वतः प्राप्त हो जाता है। राग-रहित होनेसे नीरसता नहीं आती, अपितु रसकी वृद्धि होती है और विमुख होनेसे उपेक्षा नहीं होती प्रत्युत सभीसे वह एकता प्राप्त होती है, जो वास्तवमें प्रीति है। प्रीति लोभ, मोह और स्वार्थकी तो नाशक है, पर किसी वस्तु, व्यक्ति और सेवाकी नहीं। प्रीति अनेकताकी नाशक है, एकताकी नहीं, भिन्नताकी नाशक है अभिन्नताकी नहीं, जड़ताकी नाशक है चिन्मयताकी नहीं, नीरसता-की नाशक है नित नवरसकी नहीं और पराधीनताकी नाशक है स्वाधीनताकी नहीं। प्रीति अधिकार-लालसाको मिटाती है, दूसरोंके अधिकारकी रक्षाको नहीं। इस दृष्टिसे प्रीति सभीको अभीष्ट है। पर इसकी उपलब्धि तभी सम्भव है जब नित्य योग प्राप्त कर 'अहं' और 'मम' का अन्त कर दिया जाय। उसके लिये हमें सभीसे विमुख होकर सभीसे अभिन्न होना है। जिस प्रकार देहकी आसक्तिसे ही वस्तु, व्यक्ति आदिमें आसक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार देहकी विमुखतासे वस्तु, व्यक्ति आदिकी आसक्ति मिट जाती है। अतः देहसे विमुख होनेपर ही हम सभीसे विमुख होकर प्रीति प्राप्त करके सभीसे अभिन्न हो सकते हैं। अभिन्नता प्रीतिसे होती है और विमुखता विवेकसे। इस दृष्टिसे विवेक प्रीति-जागृतिमें हेतु है। विवेक सभी साधकोंको स्वभावसे ही प्राप्त है। अतः प्रीतिप्राप्तिमें कोई परतंत्र नहीं है

दूसरोंके अधिकारकी रक्षाके बिना साधक जड़तासे विमुख होकर चिन्मय जीवनमें प्रवेश नहीं कर सकता और अपने अधिकारके

होता है वह 'अहं' और 'मम' का परिणाम है और कुछ नहीं। उस व्यक्तित्वको मिटानेके लिये ही जो कुछ भी योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुरूपमें प्राप्त है उसे विश्वकी भेंट कर देना है, क्योंकि वास्तवमें वह उसीका है। विश्वकी वस्तु विश्वको देकर साधक अपनेको अनन्तकी प्रीति बना लेता है। यह नियम है कि प्रीतिने प्रीतमसे भिन्नको कभी नहीं देखा।

अधिकार लालसाका जन्म क्यों होता है? अपनेको देह मान लेनेपर, जो अविवेकसिद्ध है। अविवेकसे उत्पन्न हुई अधिकार-लालसा विवेकसे स्वतः मिट जाती है। अब यदि कोई यह कहे कि देहको सुरक्षित रखनेके लिये तो हमें कुछ लेना ही होगा, तो कहना होगा कि ऐसी धारणा भी देहकी ममता ही सिद्ध करती है, और कुछ नहीं; क्योंकि देह तो स्वभावसे ही बदल रहा है। अतः उसको स्थिर बनाये रखनेकी लालसा कुछ अर्थ नहीं रखती। यह नियम है कि जिससे अपनी ममता न हो और जिसका उपयोग सभीके हितमें हो उसको सभी अपना मान लेते हैं। अतः जब हमारी देहमें ममता न रहेगी और देहका उपयोग सभीके हितमें होगा, तब सभी उस देहको अपने देहके समान सुरक्षित रखनेका प्रयत्न करेंगे। उस समय लेना भी देना बन जायगा। देह आदि वस्तुओंसे ममता करके देना भी लेना हो जाता है, क्योंकि उससे प्राणी उन मान, बड़ाई, पदलोलुपता आदिमें आबद्ध हो जाते हैं, जो चिन्मय जीवनसे विमुख कर देते हैं। अतः देह आदिकी ममताका साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

ममतारहित होते ही लेनेका तो प्रश्न ही नहीं रहता, केवल

देना-ही-देना रह जाता है, वह भी कबतक ? जबतक सर्वस्व नहीं दे दिया जाता। अतः देहकी ममताका त्याग करके साधक लेना बंद कर देता है और सर्वस्व देकर देनेसे मुक्त हो जाता है। सर्वस्व देते ही साधक दिव्य चिन्मय प्रीतिसे अभिन्न हो जाता है। फिर प्रीति होकर अनेक रूपोंमें, अनेक परिस्थितियोंमें अपने प्रीतमको ही लाड़ लड़ाता है, अथवा यों कहो कि नितनव-रसकी वृद्धि करता है, क्योंकि प्रीति रसरूप है।

अब यदि कोई यह कहे कि हम उस अनन्तकी तो प्रीति होना चाहते हैं, पर इस भौतिक जगत्‌की, जिसमें अनेक दोष दिखायी देते हैं, प्रीति कैसे हो सकते हैं ? तो कहना होगा कि जब प्रीतिसे अभिन्नता हो जाती है, तब समस्त भौतिक जगत् उस अनन्तकी ही अभिव्यक्ति प्रतीत होता है, उसके बाद यह प्रश्न शेष नहीं रहता कि हम किसकी प्रीति हैं। प्रीति तो सभीकी प्रीति है। पर यह अवश्य है कि वह किसी परिस्थिति आदिमें आबद्ध नहीं है, सीमित नहीं है, विनाशी नहीं है, नितनव है, दिव्य है, चिन्मय है और उसकी दृष्टिमें प्रीतमसे भिन्न कुछ नहीं है; क्योंकि प्रेमके साम्राज्यमें प्रेमास्पदसे भिन्न कुछ हुआ ही नहीं। प्रेमके साम्राज्यमें उन्हींका प्रवेश होता है, जो विवेकपूर्वक अपनेको कर्म, चिन्तन और स्थिति आदिसे असङ्ग कर लेते हैं। इस दृष्टिसे प्रेमका साम्राज्य समाधिसे अतीत है, जहाँ जड़ता, विषमता और भिन्नताका लेश नहीं है, केवल प्रीति और प्रीतमका ही ऐसा नितनव दिव्य तथा चिन्मय विलास है, जिसमें अगाध और अनन्त रस निहित है।

दोषोंका मूल—असावधानी

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि साधकके जीवनमें प्राकृतिक नियमके अनुसार न तो न जाननेका दोष है और न जाने हुएके अनुरूप जीवन बनानेके लिये सामर्थ्यका अभाव ही है, अर्थात् साधनकी मूल सामग्री तो साधकको प्राप्त ही है। उसके सदुपयोग न करनेमें साधककी ही असावधानी है, जो उसका अपना बनाया हुआ दोष है। अपने बनाये हुए दोषके मिटानेका दायित्व अपनेपर ही है, किसी औरपर नहीं। प्राप्तके सदुपयोगको ही साधन कहते हैं। इस दृष्टिसे साधन करनेमें साधक सर्वथा स्वाधीन है। साधनमें पराधीनताकी अनुभूति केवल साधककी असावधानीसे ही उत्पन्न होती है।

यदि साधकमें न जाननेका दोष होता तो न तो उसे अपने प्रति होनेवाली बुराईका ज्ञान होता और न दूसरों से भलाईकी आशा होती। जब हम बुराईको बुराई जानते हैं तभी तो अपने प्रति होने-वाली बुराई बुराई मालूम होती है और जब हम भलाईको भलाई जानते हैं तभी तो अपने प्रति दूसरोंसे भलाईकी आशा करते हैं। हमसे सबसे बड़ी असावधानी यही होती है कि जानी हुई भलाईको दूसरोंके प्रति नहीं करते, अपितु जानी हुई बुराईको दूसरोंके प्रति करने लगते हैं। कर्मविज्ञानके अनुसार दूसरोंके प्रति की हुई भलाई-बुराई अपने प्रति हो जाती है। इस दृष्टिसे हम स्वयं अपनी

अवनति अपने आप कर लेते हैं, क्योंकि दूसरोंके अहितमें ही अपनी अवनति निहित है। अब विचार यह करना है कि हम बुराईको बुराई जानते हुए बुराई क्यों करते हैं? तो कहना होगा कि इन्द्रिय-ज्ञानमें और बुद्धिके ज्ञानमें जो द्वन्द्व है, उसीके कारण हम बुराईको बुराई जानकर भी उसका त्याग नहीं कर पाते। जिस कालमें बुद्धिका ज्ञान इन्द्रियोंके ज्ञानपर विजयी हो जाता है उसी कालमें द्वन्द्व मिट जाता है, उसके मिटते ही बुराईका त्याग स्वतः हो जाता है और भलाई अपने आप होने लगती है, क्योंकि बुराईको तो किया जाता है और भलाई स्वतः होती है।

इन्द्रिय-ज्ञानका दुरुपयोग राग उत्पन्न करता है। रागसे भोगमें प्रवृत्ति स्वाभाविक होने लगती है। भोग-प्रवृत्तिसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और भोगके परिणाममें भयंकर दुःख, अभाव, जड़ता एवं पराधीनता आ जाती है, जो किसीको अभीष्ट नहीं है।

इन्द्रिय-ज्ञानके सदुपयोगसे रागकी वास्तविकताका परिचय होता है और विश्वके सौन्दर्यको देखकर उसके रचयिताकी जिज्ञासा तथा लालसा जाग्रत् होती है; परंतु हम असावधानीके कारण वस्तु-व्यक्ति आदिके सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्यको देखकर आसक्त हो जाते हैं, और इन्द्रियज्ञानका दुरुपयोग करने लगते हैं, यही अवनतिका मूल है। इस दृष्टिसे इन्द्रियज्ञानका सदुपयोग रागको अनुरागमें परिवर्तित करके साधकको विश्वके रचयिताकी ओर गतिशील होनेकी प्रेरणा देनेमें समर्थ है।

इन्द्रियज्ञान तो वस्तु, व्यक्ति आदिमें सीमित तथा परिवर्तनशील सौन्दर्यका दर्शन कराता है और बुद्धिका ज्ञान अन्य वस्तुओंकी तो

कौन कहे अपने शरीरमें भी क्षणभंगुरता एवं मलिनताका दर्शन कराता है। यदि बुद्धिके ज्ञानका अनादर न किया जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक कामका अन्त हो जाता है, जो अनन्त नित्य सौन्दर्यकी लालसा जाग्रत् करनेमें समर्थ है, क्योंकि कामका उद्‌गमस्थान अपने शरीरकी सुन्दरता और सत्यताकी प्रतीतिमें है, जो वास्तवमें है नहीं। इस दृष्टिसे इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञानका सदुपयोग किया जाय तो उनका द्वन्द्व मिट सकता है, उसके मिटते ही समस्त बुराइयोंका अन्त हो जायगा और भलाई स्वतः होने लगेगी। अथवा यों कहो कि जो नहीं करना चाहिये उसकी निवृत्ति हो जायगी और जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगेगा। यही वास्तविक साधन है।

प्राकृतिक नियमके अनुसार इन्द्रियज्ञान सेवाके लिये मिला है, सुख-भोगके लिये नहीं और बुद्धिका ज्ञान त्यागके लिये मिला है, विवादके लिये नहीं। सेवासे त्यागकी पुष्टि होती है और त्यागसे प्रेमकी प्राप्ति होती है। सभी साधनोंकी परावधि त्यागमें और त्यागकी परावधि प्रेममें निहित है। साधनदृष्टिसे तो इन्द्रियज्ञान तथा बुद्धिज्ञान दोनोंका उपयोग एक ही उद्देश्यकी पूर्तिमें निहित है।

सुख सेवाके लिये है, उपभोगके लिये नहीं और दुःख विवेकका आदर करनेके लिये है, भयभीत होनेके लिये नहीं। परिवर्तनशील जीवनकी समस्त परिस्थितियाँ सुख तथा दुःखके स्वरूपमें ही प्रतीत होती हैं। इस दृष्टिसे प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप है; परंतु हम अपनी असावधानीसे सुख-दुःखका सदुप-योग नहीं कर पाते। इस कारण प्राप्त परिस्थिति हमारे लिये

साधनरूप नहीं हो पाती, अपितु साधनमें बाधक प्रतीत होती है, परंतु यह बात वास्तवमें है नहीं, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्यायमें सभीका हित है, किसीका अहित नहीं। अतः साधन-दृष्टिसे सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। इस दृष्टिसे हमें प्राप्त परिस्थितिमें ही साधनका निर्माण करना चाहिये। साधनसे न तो निराश होना चाहिये और न हार ही स्वीकार करनी चाहिये। जो साधक साधन करनेसे निराश नहीं होता और हार स्वीकार नहीं करता वह अवश्य सिद्धि पाता है। असफलताका कारण एकमात्र साधनसे निराश होना और हार स्वीकार करना है, जो साधककी अपनी ही असावधानी है।

साधनका आरम्भ सेवा और त्यागसे होता है और अन्त प्रेममें। साधकका अस्तित्व बीजरूपसे साधन-तत्त्व ही है, और कुछ नहीं अर्थात् साधक विकसित होकर साधन-तत्त्वसे अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टिसे साधन-तत्त्वसे भिन्न साधकका और कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब यह समझमें आ जाता है कि साधन-तत्त्व ही साधकका अस्तित्व है, तब साधकका समस्त जीवन सेवा होकर त्यागमें और त्याग होकर प्रेममें विलीन हो जाता है। अथवा यों कहो कि बीजरूप साधन-तत्त्व जो साधकका अस्तित्व है, वह सर्वप्रथम सेवारूपी वृक्षके स्वरूपमें विकसित होता है, उसपर वह त्यागरूपी फल लगता है, जिसमें प्रेमरूपी रस भरा है। उस रसकी माँग अन्य किसीकी तो बात ही क्या, अनन्तको भी है।

साधनके आरम्भमें जो सेवक है, वही मध्यमें त्यागी है और अन्तमें प्रेमी है। असाधनकालमें जो स्वार्थी है, वही रागी है और

वही मोही है। अथवा यों कहो कि स्वार्थरूपी भूमिमें ही रागरूपी वृक्ष उपजता है, जिसपर वह मोहरूपी फल लगता है, जिसका परिणाम भयंकर और दुःखद है।

स्वार्थकी उत्पत्तिका मूल कारण प्राप्त विवेकका अनादर है, और कुछ नहीं। अथवा यों कहो कि इन्द्रियज्ञान और बुद्धिज्ञानका दुरुपयोग है। इस दृष्टिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधनकालमें न तो सामर्थ्यका अभाव है और न जाननेका ही दोष है। केवल साधन करनेकी लालसाकी न्यूनता है, जो साधकके जीवनको साधनरूप नहीं बनने देती।

साधनकी लालसा सबल और स्थायी नहीं होती, इसका एकमात्र कारण यह है कि साधक जो कुछ जानता है उसे मानता नहीं, यदि मान भी लेता है तो उसके अनुरूप जीवन नहीं बनाता, यह साधककी अपनी ही असावधानी है।

जो साधक अपने ज्ञानका आदर नहीं करता वह गुरु और ग्रन्थके ज्ञानका भी आदर नहीं कर सकता। जैसे जो नेत्रके प्रकाशका उपयोग नहीं करता, वह सूर्यके प्रकाशका भी उपयोग नहीं कर पाता। उसी प्रकार जो साधक प्राप्त विवेक और बलका उपयोग नहीं कर पाता वह किसी अन्यके दिये हुए बल और विवेकका उपयोग भी नहीं कर सकता। अतः यह निश्चित है कि प्राप्त विवेकका आदर और प्राप्त सामर्थ्य सदुपयोगसे ही साधनका निर्माण हो सकता है।

अब विचार यह करना है कि साधनका क्रम क्या होना चाहिये? तो कहना होगा कि सेवा करते हुए त्यागका सम्पादन करना चाहिये और त्यागको प्रेममें बदलनेके लिये प्रयत्नशील रहना

चाहिये। यह तभी सम्भव होगा जब सेवा करनेपर न तो सेवाका अभिमान हो और न सेवक कहलानेकी रुचि ही। निरभिमानता-पूर्वककी हुई सेवा स्वतः त्यागमें बदल जाती है। त्यागका फल चिर शान्ति और अमरत्वकी प्राप्ति है। जब साधक शान्तिके रसमें आबद्ध नहीं होता, तब त्याग प्रेममें बदल जाता है। सेवा, त्याग और प्रेमके साथ अहंभाव नहीं रहना चाहिये। ऐसा होनेपर सेवा त्यागमें और त्याग प्रेममें स्वतः विलीन हो जाता है अर्थात् सेवा, त्याग और प्रेम तो हो, पर सेवक त्यागी और प्रेमी न हो। अथवा यों कहो कि सेवक सेवा होकर त्याग, त्यागी त्याग होकर प्रेम और प्रेमी प्रेम होकर प्रेमास्पदसे अभिन्न हो जाय, यही वास्तविक जीवन है।

गुण, दोष और उनकी निवृत्ति

वर्तमान जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि गुण-दोषका समूह ही जीवन है। गुणोंको सीमित कर देनेपर दोप भासने लगते हैं। परंतु वास्तवमें मानवका लक्ष्य गुण और दोपसे अतीत वास्तविक जीवनको प्राप्त करना है। उसके लिये गुण और दोपके द्वन्द्वका अन्त करना होगा। यह तभी सम्भव है जब दोपकी उत्पत्ति न हो और गुणोंका अभिमान गल जाय। उसके लिये प्राप्त विवेकके प्रकाशमें वर्तमान वस्तुस्थितिका अध्ययन करना अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि गुण और दोपके द्वन्द्वका अन्त कैसे हो? तो कहना होगा कि गुण और दोपके स्वरूपको जान लेनेपर ही द्वन्द्वका अन्त हो सकता है। सभीको सुख देनेके प्रयासको गुण कहते हैं; किंतु केवल एक ही शरीरको सुखी रखनेका प्रयास किया जाय तो वह दोप हो जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि गुणको सीमित कर देना दोप हो जाता है। जिस प्रकार प्रकाशकी न्यूनता ही अन्धकार है, अन्धकारका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; उसी प्रकार गुण की न्यूनता ही दोप है, दोपका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यदि दोपका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो वह मिट ही नहीं सकता था। मिटाना उसीको है जो मिट सकता है और मिट वही सकता है जिसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न हो, अपितु जो किसी कारणसे प्रतीत होता हो।

ज्ञानकी न्यूनता अज्ञान, प्रेमकी न्यूनता द्वेष, त्यागकी न्यूनता राग और उदारताकी न्यूनता लोभ है। यद्यपि गुण और दोष अनेक नहीं हैं; परंतु एक ही गुण स्थानभेदसे अनेक गुणोंके रूपमें और एक ही दोष स्थानभेदसे अनेक दोषोंके रूपमें प्रतीत होता है। अब विचार यह करना है कि मौलिक गुण और दोष क्या हैं? तो कहना होगा कि सभी दोष अविवेकमें और सभी गुण विवेकमें विद्यमान हैं। अतः गुण और दोषका द्वन्द्व मिटानेके लिये विवेकरूपी प्रकाशमें अविवेकरूपी अन्धकारका अन्त करना अनिवार्य है।

गुण और दोषका द्वन्द्व मिटते ही दोषोंकी उत्पत्ति न होगी और गुणोंका अभिमान न रहेगा, गुणोंका अभिमान गलते ही सीमित अहंभाव मिट जायगा, जिसके मिटते ही सब प्रकारके अभावका अभाव हो जायगा, जो वास्तविक जीवन है।

गुणोंकी पूर्णतामें अभिमानका उदय नहीं होता। अभिमानका उदय तो तभी होता है जब आंशिक गुण हों। आंशिक गुणमें दोषकी उपस्थितिका होना अनिवार्य है। वास्तविक निर्दोषता आ जानेपर न तो दोषकी उत्पत्ति ही होती है और न गुणोंका अभिमान ही रहता है।

सभी दोष अविवेकके कार्य हैं। अब विचार यह करना है कि अविवेक क्या है? तो कहना होगा कि अविवेक केवल विवेकका अनादर है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इस कारण विवेकके आदरमें ही अविवेकका विनाश है। जिस प्रकार प्रकाश होनेपर अन्धकारका दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार विवेकका आदर करनेपर सीमित अहंभावरूपी अन्धकार जो अविवेक है, स्वतः मिट जाता

है। उसके मिटते ही समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि जिस भूमिमें दोष निवास करते थे वह भूमि ही शेष नहीं रहती।

अब विचार यह करना है कि विवेकका आदर क्या है? तो कहना होगा कि 'यह' को 'मैं' न मानना ही विवेकका आदर है, जिसके करते ही सीमित अहंभाव मिट जाता है। जिस प्रकार सूर्यका उदय और अन्धकारकी निवृत्ति युगपत् है, उसी प्रकार विवेकका आदर और अविवेककी निवृत्ति युगपत् है। 'यह' को 'मैं' न मानने पर सभी दोष मिट जाते हैं। जिनके मिटते ही स्वतः दिव्य गुण प्रकाशित होते हैं; क्योंकि 'यह' को 'मैं' न माननेसे कामनाओंका अन्त हो जाता है और कामनाओंकी निवृत्तिमें ही जिज्ञासाकी पूर्ति निहित है। कामनाओंकी निवृत्ति और जिज्ञासाकी पूर्ति होते ही सीमित अहंभाव-जैसी कोई वस्तु ही शेप नहीं रहती, क्योंकि सभी कामनाओंका उद्गमस्थान जो 'यह' को 'मैं' मानना था, वह शेष नहीं रहा।

अब यदि कोई यह कहे कि कामनारहित होनेपर क्या जिज्ञासाके आधारपर सीमित अहं नहीं रह सकता? तो कहना होगा कि कदापि नहीं; क्योंकि जिज्ञासा उसीकी होती है जिससे देश-कालकी दूरी नहीं है और जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त नहीं है। जिससे देश-कालकी दूरी नहीं है और जो अविनाशी है उसकी जिज्ञासा उसीमें विलीन हो जाती है यह प्राकृतिक विधान है। अतः कामनाओंकी निवृत्ति और जिज्ञासाकी पूर्ति होने पर सीमित अहंका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। यह नियम है कि सीमित अहंके मिटते ही 'मम' मिट जाता है तथा 'अहं' और 'मम' के नाश होते ही सीमित प्रीति

अर्थात् सब प्रकारकी आसक्तियाँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही सभी दोष मिट जाते हैं। फिर गुण और दोषका द्वन्द्व नहीं रहता।

कामनाओंकी निवृत्तिमें चिरशान्ति और सामर्थ्य, जिज्ञासाकी पूर्तिमें अमरत्व और समस्त आसक्तियोंकी निवृत्तिमें दिव्य चिन्मय प्रीति निहित है।

यद्यपि दिव्य चिन्मय प्रीति बीजरूपसे सभीमें विद्यमान है; परंतु वह अविवेकसे आच्छादित हो जाती है, अविवेक उसका विनाश नहीं कर सकता। इसी कारण प्राणिमात्रमें किसी-न-किसी रूपमें प्रीति रहती है, जैसे हिंसक प्राणी भी अपने शरीरसे और अपने बच्चोंसे प्रीति करते हैं। प्रीतिकी न्यूनतामें ही लोभ, मोह, आसक्ति जड़ता एवं हिंसा आदि दोष उत्पन्न होते हैं और प्रीति की व्यापकतामें ही निर्मोहता, निर्लोभता, अनासक्ति, चिन्मयता आदि दिव्य गुणोंका प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टिसे सभी दोषों का मूल प्रीतिकी न्यूनता और सभी दिव्य गुणोंके प्रादुर्भावका हेतु प्रीतिकी अनन्तता है। प्रीति न तो किसी कर्मका फल है और न अभ्यासका ही; क्योंकि कर्मका फल नित्य नहीं हो सकता और प्रीति नित्यतत्त्व है। अभ्यास अनन्त नहीं हो सकता, श्रमरहित नहीं हो सकता, अहंरहित नहीं हो सकता; परंतु प्रीति श्रमरहित है, अहंरहित है, अनन्त है और दिव्य चिन्मय है। इस दृष्टिसे प्रीतिकी सिद्धि न किसी कर्मका फल है और न अभ्यासका।

अब विचार यह करना है कि प्रीति किसका फल है? तो कहना होगा कि प्रीति किसीका फल नहीं है, अपितु अनन्तका स्वभाव है। अविवेकके कारण प्रीति ढँकी-सी रहती है, जो

विवेकका आदर करते ही ज्यों-की-त्यों स्वतः जाग्रत् हो जाती है। क्योंकि अविनाशीका स्वभाव भी विनाशरहित होता है।

यद्यपि कामना-निवृत्ति विवेकसिद्ध है; परंतु विवेकका आदर करनेमें स्वाभाविक प्रियता इसलिये नहीं होती कि कामना-अपूर्तिके दुःख और कामना-पूर्तिके सुखके आक्रमणोंसे प्राणी क्षुब्ध रहता है। इस कारण विवेकका आदर करनेमें वह अस्वाभाविकता प्रतीत होने लगती है, जो वास्तविक नहीं है।

यदि साधक सुख-दुःखके आक्रमणोंसे क्षुब्ध न हो, अपितु दुःखको हर्षपूर्वक सहन कर ले और सुखका उदारतापूर्वक सद्व्यय करने लगे तो विवेकका आदर करनेकी सामर्थ्य स्वतः आ जाय। अतः विवेकका आदर करनेके लिये सब प्रकारके क्षोभसे रहित होना परम आवश्यक है।

सुख-दुःख अपने-आप आने-जानेवाली वस्तुएँ हैं, रहनेवाली नहीं। यह भाव दृढ़ होते ही दुःखको हर्षपूर्वक सहन करनेकी और सुखका सद्व्यय करनेकी योग्यता स्वतः आ जाती है। सुख-दुःखका सदुपयोग करते ही विवेकका आदर स्वाभाविक हो जाता है।

विवेकके आदरमें अर्थात् अविवेककी निवृत्तिमें चिरशान्ति, अमरत्व और प्रेम स्वतः सिद्ध है। जिस प्रकार काष्ठमें विद्यमान अग्नि उससे प्रकट होकर उसीको भस्म कर देती है, उसी प्रकार प्रेमीमें उत्पन्न हुआ प्रेम, जिज्ञासुमें उत्पन्न हुआ ज्ञान और योगीमें उत्पन्न हुआ योग प्रेमी, जिज्ञासु एवं योगीको भस्म करके प्रेम, ज्ञान और योगसे अभिन्न कर देता है, जो उस अनन्तकी विभूतियाँ हैं।

अहंभावके रहते हुए योग, ज्ञान और प्रेममें भले ही भिन्नता प्रतीत होती हो; परंतु अहंके गलते ही वह अभिन्नतामें परिवर्तित हो जाती है। अर्थात् योग, ज्ञान और प्रेमका विभाजन नहीं हो सकता। ये सब उस एक ही जीवनमें है, जिसकी प्राप्ति गुण और दोषका द्वन्द्व मिटनेपर अहंभावके गलते ही स्वतः सिद्ध है।

साधनरूप मान्यताएँ

जीवनके अध्ययनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि सभीको अपना मान लेनेमें, किसी एकको ही अपना मान लेनेमें अथवा किसीको भी अपना न माननेमें जीवनकी सार्थकता निहित है।

सभीको अपना मान लेनेपर स्वार्थभाव गल जाता है, उसके गलते ही राग-द्वेष मिट जाते हैं और त्याग तथा प्रेम स्वभावसे ही उदित हो जाते हैं। त्यागसे अमरत्व और प्रेमसे अगाध रसकी उपलब्धि होती है, जो सभीको अभीष्ट है।

किसी एकको ही अपना मान लेनेपर अनेक विश्वास, अनेक सम्बन्ध, अनेक चिन्तन टूट जाते हैं। प्रत्येक कार्य मोहरहित एवं उसी एकके नाते होने लगते हैं। कार्यके अन्तमें उसी अनन्तकी वह प्रीति स्वतः जाग्रत् हो जाती है, जो उससे अभिन्न करनेमें समर्थ है; क्योंकि प्रीति दूरी तथा भेदको शेष नहीं रहने देती।

किसीको भी अपना न माननेसे जीवनहीमें मृत्युका अनुभव होता है अर्थात् सब ओरसे निराशा हो जाती है, जिसके होते ही प्राणी सब ओरसे विमुख होकर अपनेहीमें प्रेमास्पदको पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

उपर्युक्त सभी मान्यताएँ साधनरूप हैं। यह नियम है कि मान्यताओंका भेद तभीतक रहता है, जबतक मान्यताके अनुरूप साधकका जीवन नहीं हो जाता। साधक और साधनमें अभिन्नता

हो जानेपर सभी साधनरूप मान्यताओंका परिणाम एक ही होता है; क्योंकि सभी साधकोंकी वास्तविक आवश्यकता एक है। केवल योग्यता-भेद होनेके कारण साधननिर्माणके लिये ही मान्यताओंका भेद है। जिस प्रकार आरोग्य सभी रोगियोंका एक है पर रोगोंका भेद होनेके कारण चिकित्सामें भेद रहता है, उसी प्रकार साधकोंकी योग्यतामें भेद होनेके कारण साधनरूप मान्यताओंका ही भेद रहता है, साध्यका नहीं।

सभीको अपना न माननेपर राग-द्वेष आदि अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं, कारण कि जिन्हें हम अपना मान लेते हैं उनसे राग हो जाता है। यह नियम है कि किसीका राग ही किसीका द्वेष बन जाता है, क्योंकि सभी दोष द्वन्द्वात्मक होते हैं।

अब यह विचार करना है कि हम सभीको अपना क्यों नहीं मानते हैं ? तो कहना होगा कि सुख-भोगकी आसक्तिके कारण हम सभीको अपना नहीं मान पाते हैं; क्योंकि काम ही भेदको उत्पन्न करता है, जो अविवेकसिद्ध है।

किसी एकको ही अपना न माननेसे अनेक विश्वास, अनेक सम्बन्ध, अनेक चिन्तन उत्पन्न हो जायँगे। अनेक विश्वास सदैव संदेहयुक्त होते हैं, अतः अनेक विश्वासोंके रहते हुए निःसंदेहता न आयेगी। निःसंदेहताके विना किसी कार्यको सुचारुरूपसे न कर सकोगे। उसके विना परिस्थितिका सदुपयोग सम्भव नहीं है। परिस्थितियोंका सदुपयोग किये विना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त होगी, न परिस्थितियोंकी दासतासे मुक्त हो सकोगे और न परिस्थितियोंसे अतीतके जीवनकी उपलब्धि ही होगी।

इस दृष्टिसे अनेक विश्वास अनेक दोष उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं। अनेक विश्वासका कार्य अनेक सम्बन्ध और अनेक चिन्तन हैं। अनेक चिन्तन सार्थक चिन्तनको और अनेक सम्बन्ध नित्य योगको जाग्रत् नहीं होने देते।

नित्य जोगके बिना चिरशान्ति और अमरत्वकी उपलब्धि नहीं हो सकती तथा सार्थक चिन्तनके बिना न तो व्यर्थ चिन्तन मिट सकता है और न प्रीतिकी जागृति ही होती है। प्रीतिके बिना प्रीतमसे अभिन्नता और नित नवरसकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। इस दृष्टिसे अनेक विश्वास, अनेक सम्बन्ध और अनेक चिन्तनोंका साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। उन सबका अन्त तभी हो सकता है जब हम किसी एकके ही होकर रहें, क्योंकि एकका होकर रहनेसे ही नित्य योगकी उपलब्धि एवं प्रीतिकी जागृति होगी।

'समस्त विश्व एक जीवन है' इसका अनुभव उन्हींको हो सकता है जो इन्द्रियोंके अल्पज्ञानको ही ज्ञान न मानकर बुद्धिके ज्ञानसे समस्त विश्वको जाननेका प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार लहर और समुद्रका विभाजन नहीं हो सकता, उसी प्रकार शरीर और विश्वका विभाजन नहीं हो सकता। सभी नेत्र एक ही सूर्यसे प्रकाश पाते हैं। सभी श्रोत्र एक ही आकाशसे शब्द सुनते हैं इत्यादि! अर्थात् समष्टि शक्तियोंसे ही शरीरकी सीमित शक्तियाँ कार्य करती हैं और (समष्टिके) अस्तित्वमें ही शरीरका अस्तित्व निहित है! विश्वकी एकताका ज्ञान ही सभीको अपना माननेका प्रेरणा देता है।

अब विचार यह करना है कि किसी एकको ही अपना माननेकी प्रेरणा कहाँसे मिलती है? इसपर कहना होगा कि समस्त विश्वकी

परप्रकाश्यता एवं इसके सतत परिवर्तनका ज्ञान किसी स्वयंप्रकाश एवं अपरिवर्तनशीलताकी लालसा जाग्रत् करता है। उसी लालसाके आधारपर किसी एकको अपना माननेकी प्रेरणा मिलती है! अथवा यों कहो कि प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये किसी एक नित्य साथीकी आवश्यकता स्वाभाविक है, उसके आधारपर भी किसी एकका होकर रहनेकी प्रेरणा मिलती है।

निज विवेकके प्रकाशमें जब समस्त विश्व काल-रूप अग्निमें जलता हुआ प्रतीत होता है, तब नित्य जीवनकी जिज्ञासा स्वतः जाग्रत् होती है। उसी जिज्ञासाके आधारपर सभीसे विमुख होनेकी प्रेरणा मिलती है, जो किसीका होकर नहीं रहने देती अर्थात् वह मृत्युसे अमरत्वकी ओर तथा असत्से सत्की ओर गतिशील करनेमें समर्थ है। जीवनके अध्ययनसे प्राप्त प्रेरणाका आदर न करनेपर साधनका निर्माण सम्भव ही नहीं है और साधन-निर्माणके बिना साध्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस दृष्टिसे प्राप्त प्रेरणाका आदर करना अनिवार्य है।

साधनरूप मान्यताएँ तथा प्रेरणाएँ सभी आदरणीय हैं। उनमेंसे किसी भी मान्यता और प्रेरणाके अनुरूप साधननिर्माण कर सकते हैं। साधन करनेमें असमर्थता नहीं है, अपितु असावधानी है, जो साधनकी रुचि जाग्रत् होनेपर मिट सकती है।

यद्यपि बीजरूपसे साध्यकी लालसा प्रत्येक साधकमें विद्यमान है, परंतु अस्वाभाविक इच्छाओंने उस लालसाको ढक रखा है। अतः अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति एवं स्वाभाविक लालसाकी जागृतिके लिये निज ज्ञानका आदर करना अनिवार्य हो जाता है।

अथवा यों कहो कि जाने हुए असत्‌के त्यागसे अस्वाभाविक इच्छा [illegible] नवृत्ति और स्वाभाविक लालसाकी जागृति स्वतः हो जाती है, जो साधन-निर्माण करनेमें समर्थ है।

साधननिर्माण वर्तमान जीवनकी वस्तु है, उसके लिये भविष्यकी आशा करना भूल है; क्योंकि जो कार्य वर्तमानमें करनेका है उसे वर्तमानहीमें करना चाहिये। साधनका आरम्भ अहंके परिवर्तनसे होता है। जिस प्रकार अपनेको विद्यार्थी मान लेनेपर अध्ययनका आरम्भ होता है, उसी प्रकार अपनेको साधक मान लेनेपर साधनका आरम्भ होता है। जो अपनेको साधक मानता है, वह अपनेको देह नहीं मान सकता। अपनेको देह न माननेसे विषयासक्ति स्वतः मिटने लगती है। उसके मिटते ही साधककी मान्यताके अनुरूप उस साधनका उदय स्वयं हो जाता है, जो साधकको साध्यसे अभिन्न करनेमें समर्थ है और जिसमें जीवनकी वास्तविकता निहित है।

——

अस्वाभाविकता और उसकी निवृत्ति

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि अस्वाभाविकता ही असमर्थता, अभाव तथा प्रमादमें आबद्ध करती है। अब विचार यह करना है कि अस्वाभाविकताका स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि अनन्तसे विभाजित हो जानाही अस्वाभाविकता है अर्थात् अपने प्रियसे भिन्न भी कोई और है—ऐसी मान्यता ही वास्तवमें प्रमाद है। इस प्रमादसे ही चाहकी उत्पत्ति हुई है और अनेक प्रकारके अभाव प्रतीत होने लगे हैं जिनके कारण प्राणी पराधीनता और असमर्थतामें आबद्ध हो गये हैं इसका परिणाम यह हुआ है कि जो स्वतः होना चाहिये उसे भी वे नहीं कर पाते।

अब विचार यह करना है कि स्वतः क्या होना चाहिये? तो कहना होगा कि योग, ज्ञान और प्रेम—ये तीनों स्वतः होने चाहिये; क्योंकि इनके लिये किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदिकी अपेक्षा नहीं है। वस्तुकी चाह लोभ उत्पन्न करती है, अवस्थाकी चाह जड़ता उत्पन्न करती है और किसी परिस्थितिकी चाह सीमित बनाती है; अथवा यों कहो कि मोहमें आबद्ध करती है। परंतु जिसकी प्राप्तिके लिये किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है उसकी प्राप्ति तो स्वाभाविक होनी चाहिये। इस दृष्टिसे योग, ज्ञान और प्रेम वर्तमानकी वस्तुएँ हैं और स्वाभाविक सिद्ध हैं। जो स्वभावसिद्ध हैं उनके लिये हम अस्वाभाविक साधनों को अपनाते हैं, यही प्रमाद है।

अब अस्वाभाविक और स्वाभाविक साधनों पर विचार करना है। संकल्पनिवृत्तिकी अपेक्षा संकल्पपूर्ति अस्वाभाविक है। अतः जो

साधन संकल्पपूर्तिके आधारपर होते हैं, वे सभी अस्वाभाविक हैं। क्योंकि संकल्पकी उत्पत्ति अविवेकसिद्ध है, अतः उनकी पूर्तिके आधारपर किया हुआ साधन स्वाभाविक हो ही नहीं सकता। अब यदि कोई यह कहे कि संकल्पनिवृत्तिकी साधना कैसे स्वाभाविक है? तो कहना होगा कि संकल्पकी उत्पत्ति और पूर्तिसे पूर्व जो जीवन है क्या उसमें कोई अस्वाभाविकता है? कदापि नहीं। अतः संकल्प-निवृत्तिकी साधना ही स्वाभाविक साधना है। संकल्प-उत्पत्तिसे पूर्व किसी प्रकारका भेद तथा किसी प्रकारका अभाव सिद्ध नहीं होता। अभावका अभाव होनेपर योग, ज्ञान, प्रेम स्वतः सिद्ध है। अभाव ही भोगकी उस रुचिको उत्पन्न करता है, जो योग नहीं होने देती; अभाव ही उस भेदको उत्पन्न करता है जो ज्ञान नहीं होने देता और अभाव ही उस भिन्नताको उत्पन्न करता है जो प्रेम नहीं होने देती।

अभावका अभाव करनेके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि संकल्पपूर्तिकी दासतासे और संकल्पनिवृत्तिके अभिमानसे अपनेको मुक्त कर लिया जाय। अर्थात् चाहकी उत्पत्ति न हो और अचाह हो जानेका अभिमान भी न हो; क्योंकि जिस गुणके साथ अहं मिल जाता है वह गुण भी दोष हो जाता है।

चाहकी उत्पत्तिका मूल अपनेमें देहभावको स्वीकार करना है। अथवा यों कहो कि अपना सीमित अस्तित्व स्वीकार करना ही चाहका उद्गमस्थान है। देहका सृष्टिसे विभाजन नहीं हो सकता और सृष्टि अपने प्रकाशकसे भिन्न नहीं हो सकती। हाँ, यह हो सकता है कि सृष्टि अपने प्रकाशकके सर्वांशमें न होकर किसी एक अंशमें हो। जिस प्रकार कोई भी लहर समुद्रसे विभाजित नहीं हो सकती और केवल

लहरोंको ही समुद्र नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार न तो सृष्टिको ही प्रकाशक कहा जा सकता और न सृष्टि अपने प्रकाशकसे भिन्न ही हो सकती है। इस दृष्टिसे हम सभी उसी प्रकाशककी अभिव्यक्तिमात्र हैं, और कुछ नहीं।

अब यदि हम अपने सीमित अस्तित्वको जो वास्तवमें नहीं है, उस अनन्तको समर्पित कर दें जिनकी हम अभिव्यक्ति हैं तो वर्तमानमें ही चाह-अचाहके जालसे मुक्त हो सकते हैं। चाहसे मुक्त होते ही बन्धन टूट जाते हैं, पराधीनता मिट जाती है, शक्तिहीनता शेष नहीं रहती और अचाहका अभिमान गलते ही अभिन्नता आ जाती है, जो दिव्य चिन्मय प्रीति प्रदान करनेमें समर्थ है। प्रीतिका उदय होते ही न तो अरुचि-जैसी कोई वस्तु शेष रहती है और न किसी प्रकारका श्रम रहता है। अरुचि तथा श्रमका अन्त होते ही अस्वाभाविकता मिट जाती है, उसके मिटते ही प्रीति और प्रीतमका नित-नव मिलन अनेक प्रकारसे होता रहता है, जो रसरूप है, दिव्य है और चिन्मय है।

अब यदि कोई पूछे कि क्या जीवनमें श्रम तथा अरुचिका कोई स्थान ही नहीं है? तो कहना होगा कि श्रमका स्थान आलस्य मिटानेमें है, प्रियके पानेमें नहीं। अरुचिका स्थान सुखभोगके त्यागमें है, प्रीतिके उदयमें नहीं। इतना ही नहीं, अरुचि ही वास्तवमें अनेक रुचियोंको जन्म देती है और श्रम ही आलस्यको उत्पन्न करता है। पर यह रहस्य तब समझमें आता है, जब देहका अभिमान गल जाय।

अब यदि कोई यह कहे कि अरुचिने अनेक रुचियोंको जन्म

है और प्रतिकूलता कामनाकी अपूर्तिमें प्रतीत होती है। कामनाकी उत्पत्ति मिथ्या अभिमानसे होती है, कामना-पूर्तिके लिये ही अनेक प्रकारकी रुचियाँ उत्पन्न होती हैं और रुचि-पूर्तिके लिये ही श्रम अपेक्षित होता है। इस दृष्टिसे यह सिद्ध हुआ कि कामना-अपूर्तिके दुःखने अरुचिको उत्पन्न किया और कामना-पूर्तिके लालचने अनेक रुचियोंको जन्म दिया। इन सबका मूल केवल मिथ्या अभिमान है; अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अरुचिने ही अनेक रुचियों और श्रमने ही आलस्यको जन्म दिया है; क्योंकि कामना-पूर्तिके लिये ही श्रम अपेक्षित है, योग, ज्ञान तथा प्रेमके लिये नहीं।

अभाव, श्रम और अरुचि—ये तीनों तभीतक निवास करते हैं जबतक हम उस अनन्तके समर्पित नहीं हो जाते अर्थात् उसके सम्मुख नहीं हो जाते जिससे विमुख हो गये हैं। अभाव अविवेक-सिद्ध है, श्रम देहाभिमानसे उत्पन्न होता है और अरुचि प्रीतिकी न्यूनतामें उत्पन्न होती है। अरुचि त्याग नहीं है, द्वेषपूर्वक सम्बन्ध है और श्रम पुरुषार्थ नहीं है, अपितु देहाभिमानका प्रतीक है। अभाव स्वरूपसे नहीं है, अपितु प्रमादसे है। अरुचि किसीको समस्त विश्वसे नहीं होती, अपितु किसी अंशसे होती है। इस दृष्टिसे अरुचि त्याग नहीं है। पुरुषार्थसे अहंभाव गल जाता है और श्रमका जन्म सीमित अहंभावसे होता है। इस दृष्टिसे श्रम पुरुषार्थ नहीं है।

चाहकी उत्पत्तिमें ही अभावकी प्रतीति होती है और चाहकी उत्पत्ति, जो नहीं है उसको स्वीकार करनेपर होती है। अतः अभाव स्वरूपसे नहीं है, अपितु प्रमादसे ही है।

अब यदि कोई कहे कि श्रमरहित होनेका उपाय क्या है? तो

कहना होगा कि सर्वप्रथम चाह और अचाहके जालसे मुक्त हो जाय, फिर अपनी सीमित शक्तियोंको अनन्त शक्तिके समर्पित कर दे, ऐसा करनेपर जिससे समस्त सृष्टि गतिशील हो रही है उसीसे सब कुछ होगा। उसके लिये चिन्ता व्यर्थ है। श्रमरहित होनेका अर्थ कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होना है, कर्तव्यसे रहित होना नहीं। कर्तव्यके लिये तो अनन्तशक्ति स्वतः कार्य कर रही है। हमें अपनी सीमित शक्तियोंको उसीसे मिला देना है अर्थात् 'करना' 'होने' में, परिवर्तित कर देना है।

अब यदि कोई कहे कि रुचि तो राग उत्पन्न कर देगी तो कहना होगा कि राग तो सुखभोगसे उत्पन्न होता है, जो रुचि-अरुचिके द्वन्द्वसे सिद्ध है। केवल रुचि तो अनुराग उत्पन्न कर देगी, राग नहीं। अनुराग विभु है और राग वस्तु, व्यक्ति आदिमें आबद्ध है। अतः अरुचिसे रहित जो रुचि है वह राग उत्पन्न नहीं कर सकती, अपितु प्रीति जाग्रत् करती है।

सीमित श्रमका अभिमान गलते ही अनंत शक्ति कार्य करने लगती है और अरुचिका अन्त होते ही केवल प्रीति-ही-प्रीति शेष रह जाती है, जो सर्वदा सर्वत्र अपने प्रीतमको ही लाड़ लड़ाती है। प्रीति होकर जहाँ देखोगे वहाँ प्रीतमपर ही दृष्टि पड़ेगी और प्रीति होकर जो सुनोगे उसमें प्रीतमकी ही आवाज सुनायी देगी। प्रीति होकर जहाँ मिलोगे वहाँ प्रीतमसे ही मिलन होगा। प्रीति होकर जो करोगे वह प्रीतमकी ही पूजा होगी; क्योंकि प्रीतिने प्रीतमसे भिन्न किसी ओरको देखा ही नहीं। अथवा यों कहो कि प्रीतिमें एकमात्र प्रीतम ही निवास करता है, कोई दूसरा नहीं।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या सब ओरसे विमुख होनेपर ही हम सत्यसे अभिन्न हो सकते हैं? तो कहना होगा कि जो सत्य सब ओरसे विमुख होनेपर प्राप्त होता है, वही सभीके सम्मुख होनेसे भी मिल सकता है। अर्थात् जिसकी उपलब्धि त्यागसे होती है उसीकी प्रेमसे भी होती है। त्याग विमुखताका पाठ पढ़ाता है और प्रेम सम्मुखताका। जबतक किसी औरकी स्वीकृति है, तबतक त्याग साधन है और जब कोई और है ही नहीं, तब प्रेम ही साधन है और प्रेमी ही साध्य है। अथवा यों कहो कि त्यागरूपी भूमिमें ही प्रेमरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है अर्थात् त्यागका फल ही प्रेम है।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या मृत्यु और अनुकूल सम्भोगका वियोग भी रुचिकर होना चाहिये? तो कहना होगा अवश्य। कारण कि किसी भी सम्भोगसे नित्य योग नहीं हो सकता। नित्ययोग एकमात्र वियोगसे ही सिद्ध है। इस दृष्टिसे संयोगकी अपेक्षा वियोग कहीं अधिक महत्त्वकी वस्तु है। किसीकी मृत्युमें ही किसीका जन्म निहित है। इस दृष्टिसे नवीन जन्मके लिये मृत्यु अपेक्षित है। इतना ही नहीं, यदि मृत्युको जीवनमें ही अपना लिया जाय तो अमरत्वकी प्राप्ति मृत्युसे ही होती है। अतः मृत्यु जीवनमें अधिक महत्त्वकी वस्तु है; परंतु देहकी आसक्ति मृत्युका भय उत्पन्न करती है, जो अविवेकसिद्ध है।

अरुचिके रहते हुए दिव्य चिन्मय प्रीतिका उदय नहीं हो सकता और प्रीतिके बिना योगीकी योगसे, जिज्ञासुकी तत्त्वसे और प्रेमीकी प्रेमास्पदसे अभिन्नता नहीं हो सकती। इस दृष्टिसे अरुचिका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि उस अनन्तमें

ही योगीके योगकी, जिज्ञासुकी जिज्ञासाकी और प्रेमीके प्रेमकी परावधि है। अनन्तसे भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता हो नहीं सकती तो फिर अरुचि किससे की जाय ?

अरुचिसे अरुचि होते ही योग, ज्ञान तथा प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश होता है, जो वास्तविक जीवन है। अतः अस्वाभाविकतासे उत्पन्न होनेवाली अरुचिका अन्त करके दिव्य चिन्मय प्रीतिको जाग्रत करना ही वह वास्तविक साधन है, जो स्वाभाविकताको अपना लेनेपर स्वतः सिद्ध है।

स्वाभाविकता आते ही सभी व्यक्तियोंमें, सभी वस्तुओंमें और सभी परिस्थितियोंमें अपने प्रीतमका ही दर्शन होगा; क्योंकि सर्वत्र सर्वदा सब कुछ उस अनन्तकी ही विभूतियाँ हैं, अन्य कुछ नहीं।

अब यदि कोई कहे कि ध्यानमें दीखनेवाली ज्योतिमें ही तथा ध्यानमें अनुभव होनेवाली दिव्य आकृतियोंमें ही उस अनन्तका दर्शन होता है तो पूछना होगा कि क्या वह ध्यान भी कोई ध्यान है, जिससे उत्थान हो जाय ? यदि ध्यानमें अनन्तका दर्शन होता है तो ध्यानके उत्थानमें किसका दर्शन होता है ? क्या अनन्तसे भिन्न किसी औरकी सत्ता है ? कदापि नहीं। जिसे हम ध्यानमें देखते हैं उसीको हमें ध्यानसे उत्थान होनेपर भी देखना है। तभी ध्यानीका ध्यान अखण्ड होगा और उसे सर्वत्र अपने प्रीतमका ही अनुभव होगा। भीतर-बाहरका भेद मिट जायगा, इसके मिटते ही उस अनन्त, नित्य चिन्मय दिव्य जीवनसे अभिन्नता हो जायगी, जो सभीका सब कुछ है।

विवेकसे प्रीति

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवनकी सार्थकता उसे विवेकदृष्टिसे अथवा प्रीतिनिर्मित दृष्टिसे देखनेपर या दृष्टिको उसके उद्गमस्थानमें विलीन करनेपर ही हो सकती है, क्योंकि विवेकदृष्टि निर्दोष बनाती है और प्रीति-निर्मित दृष्टि प्रीतमसे मिलाती है तथा दृष्टिका अपने उद्गमस्थानमें विलीन होना अमरत्वसे अभिन्न करता है। निर्दोषता, प्रीति एवं अमरत्वकी प्राप्तिमें ही जीवनकी सार्थकता निहित है।

अब विचार यह करना है कि उपर्युक्त दृष्टियोंमेंसे सर्वप्रथम किस दृष्टिका उपयोग करना चाहिये? कहना होगा कि निर्दोषता आनेपर ही प्रीतिका उदय होता है और अमरत्वसे अभिन्नता होती है। इस कारण सर्वप्रथम विवेकदृष्टिका उपयोग करना अनिवार्य है।

विवेकदृष्टिमें अपने बनाये हुए दोषका ज्ञान तथा उसकी निवृत्तिका उपाय विद्यमान है। पर यह तभी सम्भव होगा जब विवेकदृष्टिका उपयोग केवल अपने वर्तमान जीवनपर ही किया जाय, किसी अन्यपर नहीं। जिस प्रकार एक जल-कणके ज्ञानमें समस्त जलका ज्ञान निहित है, उसी प्रकार अपने वर्तमान जीवनके ज्ञानमें समस्त विश्वका ज्ञान निहित है; क्योंकि व्यक्तिगत जीवन समष्टि जीवनका एक अङ्ग है, दूसरा कुछ नहीं।

विवेकदृष्टिसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितिमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। इतना ही नहीं, समस्त दृश्य किसीका प्रकाश है, अन्य कुछ नहीं। वस्तु आदिके परिवर्तनका ज्ञान नित्य जीवनकी आवश्यकता जाग्रत् करता है तथा प्रकाश प्रकाशककी ओर गतिशील होनेकी प्रेरणा देता है। नित्य जीवनकी आवश्यकता अनित्य जीवनकी कामनाओंको खा लेती है। कामनारहित होते ही आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है। कामनाओंकी निवृत्तिमें निर्दोषता और आवश्यकताकी पूर्तिमें नित्य जीवनकी प्राप्ति निहित है।

निर्दोषता आते ही राग-द्वेषका अन्त हो जाता है। राग-द्वेष-रहित होते ही इन्द्रियाँ विषयोंसे विमुख होकर मनमें, मन बुद्धिमें और बुद्धि अपने प्रकाशकमें विलीन हो जाती है अथवा यों कहो कि इन्द्रियोंके प्रकाशमें जगत्‌की प्रतीति है, इन्द्रियाँ मनके, मन बुद्धिके और बुद्धि उस अनन्तके प्रकाशसे प्रकाशित है, जो सभीसे अतीत है। इस दृष्टिसे समस्त दृश्य उस अनन्तका प्रकाश है। प्रकाशमें सत्ता प्रकाशककी ही होती है, अतः प्रकाश और प्रकाशकका विभाजन नहीं हो सकता, अपितु प्रकाश अपने प्रकाशकसे अभिन्न हो सकता है। वास्तवमें यही नित्य योग है।

दृश्यके संयोगसे भोग और उसकी विमुखतामें नित्य-योग स्वतः सिद्ध है। नित्ययोग संयोगकी दासता और वियोगके भयसे मुक्त करनेमें समर्थ है, उसके होते ही चिर शान्ति, अमरत्व एवं प्रीतिकी जागृति स्वतः हो जाती है; क्योंकि जब दृष्टि अपने उद्‌गम-स्थानमें विलीन हो जाती है, तब किसी प्रकारका भय तथा अभाव

शेष नहीं रहता। अथवा यों कहो कि प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश हो जाता है। फिर दिव्य चिन्मय प्रीतिनिर्मित दृष्टि प्राप्त होती है। प्रीतिने अपने प्रीतमसे भिन्न कभी किसीको देखा ही नहीं। प्रीतिकी दृष्टिमें सृष्टि नहीं है, क्योंकि सृष्टि तो केवल अविवेकसे उत्पन्न हुई दृष्टिसे प्रतीत होती है, जो नित्य-योग प्राप्त होनेपर शेष नहीं रहती।

प्रीति उस अनन्तका स्वभाव है और विवेकीका जीवन है अर्थात् विवेकीका अस्तित्व प्रीतिसे भिन्न कुछ नहीं है। प्रीति सब प्रकारकी आसक्तियोंको अपनेमें विलीन कर लेती है। अथवा यों कहो कि समस्त आसक्तियाँ गलकर प्रीतिके स्वरूपमें बदल जाती हैं। प्रीति रसरूप है, असीम है, दिव्य और चिन्मय है एवं अविनाशी होनेके कारण नित-नव भी है। प्रीतिकी न कभी पूर्ति होती है, न निवृत्ति और न क्षति ही; क्योंकि प्रीति अनन्तका स्वभाव होनेके कारण अनन्त है।

प्रीतिकी प्राप्ति उन्हीं साधकोंको होती है जो विवेकपूर्वक अपनेको वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियोंसे अतीतके जीवनसे अभिन्न कर लेते हैं अर्थात् अपनेसहित अपना सर्वस्व समर्पण करनेपर ही प्रीतिकी उपलब्धि हो सकती है, क्योंकि 'अहं' और 'मम'का नाश बिना हुए प्रेमके साम्राज्यमें प्रवेश नहीं हो सकता।

'अहं' और 'मम' का नाश करनेके लिये विवेकपूर्वक अविवेकका अन्त करना अनिवार्य है। अविवेक अन्त होते ही सब प्रकारकी चाहका अन्त हो जाता है। चाहरहित होते ही अप्रयत्न

होना ही प्रयत्न रह जाता है, जो 'अहं' और 'मम' का नाश करनेमें समर्थ है।

विवेकदृष्टिमें सृष्टिका अन्त है, प्रीतिकी दृष्टिमें प्रीतमकी प्राप्ति है। दृष्टिका अपने उद्गमस्थानमें विलय होनेमें ही अमरत्वकी प्राप्ति है।

विवेककी दृष्टि साधनका आरम्भ है और दृष्टिका अन्त अथवा प्रीतिकी दृष्टि साधनका अन्त है। अतः विवेकपूर्वक दृष्टिको उसके उद्गमस्थानमें विलीन करके प्रीति-निर्मित दृष्टि प्राप्त करनेमें ही जीवनकी सार्थकता है, जो वर्तमानकी वस्तु है।

उद्देश्य और उसकी पूर्ति

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि उद्देश्यका ज्ञान और उसकी पूर्तिकी लालसा जाग्रत् होनेपर प्राणी स्वभावसे ही अपना सर्वस्व समर्पित करनेके लिये तत्पर हो जाता है, क्योंकि उद्देश्य वही हो सकता है जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवनसे हो, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो, जिसकी पूर्तिमें किसीका अहित न हो और समस्त प्रवृत्तियाँ उसीके लिये हों अर्थात् समस्त जीवन उस एक लालसाकी पूर्तिमें ही लग जाय।

अब विचार यह करना है कि उद्देश्यका ज्ञान कैसे हो ? उसके लिये हमें अनेक इच्छाओंके मूलमें अपनी स्वाभाविक आवश्यकताको जानना होगा, क्योंकि आवश्यकताके ज्ञानमें ही उद्देश्यका ज्ञान विद्यमान है। आवश्यकता उसीका नाम है जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो, जिसके लिये अनेक इच्छाओंका त्याग किया जा सके, पर जिसका त्याग किसी भी प्रकार न हो सके। जिस आवश्यकताका त्याग किसी प्रकार नहीं हो सकता उसका ज्ञान तभी सम्भव होगा जब हम उन सभी इच्छाओंका त्याग कर दें जिनकी पूर्तिके बिना सुखपूर्वक अथवा दुःखपूर्वक रह सकते हैं। सभी बाह्य वस्तुओं और व्यक्तियोंका त्याग हम गहरी नींदके लिये कर देते हैं, परंतु यदि जड़तारहित सुषुप्ति प्राप्त हो जाय तो उसके लिये गहरी नींदका भी त्याग कर सकते हैं। जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाएँ सुषुप्तिमें विलीन होती हैं। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंका ज्ञान जाग्रत् और स्वप्नमें

भी रहता है; परंतु सुषुप्तिका ज्ञान सुषुप्ति-अवस्थामें स्पष्ट नहीं होता, केवल सुखपूर्वक निद्राकी स्मृति ही जाग्रत्‌में होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति-अवस्थाके सुखकी अनुभूति है, क्योंकि बिना अनुभूतिके स्मृति सम्भव नहीं है; परंतु प्रत्येक अवस्थाका त्याग होता है। अतः सभी अवस्थाओंसे अतीतके जीवनकी आवश्यकता ही स्वाभाविक आवश्यकता है। अथवा यों कहो कि जो सभी अवस्थाओंका प्रकाशक है उसकी आवश्यकता ही स्वाभाविक आवश्यकता हो सकती है। इस दृष्टिसे जो वस्तु, अवस्था आदिसे अतीत है और सभीका प्रकाशक है, उसकी प्राप्ति और उसकी प्रीति हमारा उद्देश्य है। यद्यपि सत्तारूपसे वह सर्वदा प्राप्त है; परंतु वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदिकी आसक्तिने हमें उससे विमुख कर दिया है।

जिससे हमें उद्देश्यका ज्ञान होता है उसी ज्ञानमें उद्देश्यपूर्तिके साधनोंका भी ज्ञान विद्यमान है। जब हम जानते हैं कि जाग्रत् और स्वप्नमें सुख और दुःख दोनों ही होते हैं और सुषुप्तिमें किसी प्रकारका दुःख नहीं रहता, तब उसका कारण एकमात्र यह हुआ कि जाग्रत् और स्वप्नमें तो दृश्यसे सम्बन्ध रहता है, परंतु सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्नका दृश्य अपने कारणमें विलीन हो जाता है। दृश्यके विलीन होनेपर दुःख नहीं रहता। इस अनुभूतिके आधारपर यदि हम जाग्रत्‌में ही अपनेको समस्त दृश्यसे विमुख कर लें तो दुःखका अन्त हो जायगा और सुषुप्तिकी भाँति जड़ता भी नहीं रहेगी।

अब विचार यह करना है कि समस्त दृश्यसे विमुखता प्राप्त करनेके लिये क्या करना होगा? तो कहना होगा कि दृश्यके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर ही दृश्यसे विमुखता सम्भव है।

यह नियम है कि असत्‌का ज्ञान असत्‌से असङ्ग होनेपर और सत्‌का ज्ञान सत्‌से अभिन्न होनेपर होता है।

दृश्यका स्वरूप क्या है? जिसमें प्रवृत्ति तो हो पर जिसकी प्राप्ति न हो अर्थात् जिसकी ओर दौड़ते हों, पर उसे पकड़ न पाते हों। यही दृश्यका वास्तविक स्वरूप है। जिसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है उसमें प्रवृत्ति क्यों होती है? अथवा जिसे पकड़ नहीं पाते उसकी ओर दौड़ते क्यों हैं? तो कहना होगा कि अपनेको देह मान लेनेके कारण ही ऐसा होता है, जो अविवेकसिद्ध है।

अपनेको देह मान लेनेपर कामनाओंका उदय होता है, क्योंकि ऐसी कोई कामना नहीं है, जिसका सम्बन्ध देहसे न हो। कामनाओंका उदय होते ही बुद्धि मनमें मन इन्द्रियोंमें और इन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं; परंतु प्रवृत्तिके अन्तमें शक्तिहीनताके अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता। अथवा यों कहो कि प्रवृत्तिका राग होनेके कारण परतन्त्रता और जड़ताकी अनुभूति होती है। प्रवृत्तिके अन्तमें स्वभावसे आनेवाली निवृत्तिसे शक्तिका संचय होने लगता है, जिसके होते ही रागके कारण पुनः प्रवृत्ति होने लगती है। इसी प्रकार अनेक बार प्रवृत्ति-निवृत्ति होती रहती है; परंतु प्राप्ति कुछ नहीं होती। इस अनुभूतिका आदर करनेपर प्रवृत्तिसे अरुचि हो जाती है और प्रवृत्तिसे अतीतके जीवनकी जिज्ञासा जाग्रत् होती है। वह जिज्ञासा ज्यों-ज्यों सबल और स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों प्रवृत्तिका राग स्वतः मिटता जाता है। प्रवृत्तिके रागका अन्त होनेपर जो निवृत्ति प्राप्त होती है, वह चिर शान्ति प्रदान करती है।

यह नियम है कि असत्‌का ज्ञान असत्‌से असङ्ग होनेपर और

सत्का ज्ञान सत्से अभिन्न होनेपर ही होता है। इस दृष्टिसे जब प्रवृत्तिसे असङ्गता प्राप्त होती है, तब दृश्यके वास्तविक स्वरूपका यह ज्ञान हो जाता है कि वह वास्तवमें कुछ नहीं है; क्योंकि यदि दृश्यका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो प्रवृत्तिके अन्तमें प्राप्ति होनी चाहिये थी। पर ऐसा नहीं होता। केवल प्रवृत्तिके रागसे ही बार-बार प्रवृत्ति होती है। रागकी निवृत्ति होते ही प्रवृत्ति सहज निवृत्तिमें विलीन होकर चिर शान्तिसे अभिन्न हो जाती है। चिर शान्तिमें किसीको दृश्यकी अनुभूति नहीं होती। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि दृश्यका वास्तविक स्वरूप अभावरूप है। दृश्य भले ही इन्द्रिय-दृष्टिसे सत् और बुद्धिकी दृष्टिसे परिवर्तनशील मालूम होता हो, परंतु इन्द्रिय और बुद्धि भी तो दृश्यके ही अन्तर्गत हैं। यदि इन्द्रिय तथा बुद्धिसे असङ्ग होकर दृश्यकी खोज की जाय तो दृश्य-जैसी कोई वस्तु नित्य या अनित्य किसी भी रूपमें प्रतीत नहीं होती। अतः दृश्यके सम्बन्धमें यही कहना उपयुक्त जान पड़ता है कि दृश्य वह है जिसकी ओर दौड़ते हों, पर जिसे पकड़ न पाते हों।

अब यदि कोई यह कहे कि दृश्य नहीं है तो प्रतीत क्यों होता है? तो कहना होगा कि दृश्यकी प्रतीति इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञानसे तद्रूप होनेपर होती है। ये दोनों भी दृश्य ही हैं इसलिये यह सिद्ध हुआ कि दृश्यसे तद्रूप होनेपर ही दृश्यकी प्रतीति होती है। दृश्यसे तद्रूपता निज ज्ञानके अनादरसे है, वास्तविक नहीं।

निज ज्ञानका आदर करने पर दृश्यसे तद्रूपता नहीं रहती। तद्रूपताके मिटते ही दृश्यकी प्रतीति स्वतः मिट जाती है, उसके मिटते ही नित्ययोग प्राप्त हो जाता है। नित्ययोगमें चिर शान्ति

और सामर्थ्य विद्यमान है, जो उद्देश्यकी पूर्तिमें हेतु है; क्योंकि चिरशान्ति सभी वस्तु अवस्था आदिकी आसक्तियोंका अन्त कर देती है और सभी अवस्थाओंसे अतीतके जीवनसे अभिन्न कर देती है। वस्तु, अवस्था आदिकी आसक्ति तो तभीतक जीवित रहती है जब-तक चिर शान्ति, खिन्नता और अभावको खा नहीं लेती। चिर-शान्ति स्थिति नहीं है। स्थिति तो सविकल्प या निर्विकल्प होती है। स्थिति अवस्था है स्वतन्त्र सत्ता नहीं, परन्तु चिर शान्ति अवस्थाओंसे असङ्ग होने पर प्राप्त होती है। चिर शान्तिमें जड़तासे विमुख कर चिन्मय साम्राज्यमें प्रवेश करानेकी सामर्थ्य है। अथवा यों कहो कि चिर शान्ति उस अमरत्वसे अभिन्न कर देती है, जो वास्तविक जीवन है। अमरत्वसे अभिन्न होते ही दिव्य चिन्मय प्रीति स्वतः जाग्रत् हो जाती है, क्योंकि जीवन तथा रसका विभाजन नहीं हो सकता। रसरहित जीवन और जीवनरहित रस किसीको भी अभीष्ट नहीं है। अमरत्व जीवन है और प्रीति रस है। इस दृष्टिसे अमरत्व और प्रीति दोनोंहीकी प्राप्ति मानवका उद्देश्य है। उसकी पूर्ति दृश्यसे विमुख होनेपर वर्तमानमें ही हो सकती है; परन्तु, यदि किसी कारण दृश्यसे विमुख होनेमें असमर्थताका अनुभव हो तो उद्देश्य-पूर्तिके नाते निर्मोहतापूर्वक प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये। यह तभी सम्भव होगा जब प्राप्तवस्तु, योग्यता तथा सामर्थ्यसे सभीकी सेवा की जाय और सेवाका अन्त त्यागमें कर दिया जाय अर्थात् सेवाके बदलेमें किसी प्रकारकी आशा न की जाय, अपितु जिनकी सेवा की जाय उन्हींके हित और प्रसन्नताका ध्यान रहे। ऐसा होते ही दृश्यसे

विमुख होनेकी वह सामर्थ्य स्वतः आ जायगी, जो उद्देश्य-पूर्तिमें समर्थ है।

यदि किसी कारणवश सर्वहितकारी सेवा भी सम्भव न हो तो अपने-आपको उसके समर्पित कर देना चाहिये, जो सभीका सब कुछ है और जिसकी प्राप्ति ही मानवका उद्देश्य है। समर्पित होते ही उनकी कृपाशक्ति स्वतः साधन करनेकी सामर्थ्य प्रदान करेगी या उद्देश्यकी पूर्ति कर देगी अथवा यों कहो कि जिसको प्राप्त करना है उसकी अहैतुकी कृपाका आश्रय ही अन्तिम सुगम साधन है।

कर्तव्यमीमांसा

वर्तमान जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान कार्यको भविष्यपर छोड़ना और भविष्य के कार्यका वर्तमानमें चिन्तन करना, जो स्वयं कर सकते हैं उसके लिये दूसरोंकी ओर देखना और जो अपने करनेका नहीं है उसके लिये स्वयं चिन्तन करना यही असफलताका कारण है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान कार्य क्या है? तो कहना होगा कि प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग, जाने हुए दोषका त्याग, जिसे प्राप्त करना हो उसका विश्वास, उससे नित्य सम्बन्ध और जिससे छुटकारा पाना है उसकी ममताका त्याग वर्तमानका कार्य है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोगमें ही प्राणीका हित है; क्योंकि परिस्थितिका सदुपयोग करनेपर न तो अप्राप्त परिस्थितिका चिन्तन होता है और न प्राप्त परिस्थितिकी आसक्ति ही रहती है अर्थात् प्राप्त परिस्थितिसे असंगता हो जाती है और अप्राप्त परिस्थितिकी चाह मिट जाती है। अप्राप्त परिस्थितिकी चाह मिटनेसे वस्तु, व्यक्ति आदिका चिन्तन मिट जाता है। वस्तुका चिन्तन मिटते ही निर्लोभता और व्यक्तिका चिन्तन मिटते ही निर्मोहता आ जाती है। निर्लोभता जड़तासे विमुख करती है और निर्मोहता अविवेकका नाश करती है। जड़तासे विमुख होते ही चिन्मय साम्राज्यमें प्रवेश और अविवेकका नाश होते ही नित्य जीवनकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

जाने हुए दोषका त्याग करते ही निर्दोषता स्वतः आ जाती है,

क्योंकि सभी दोष दोषीके सहयोगसे ही जीवित रहते हैं; अतः दोषकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जब साधक जाने हुए दोषका त्याग कर देता है, तब पुनः दोषकी उत्पत्ति नहीं होती। यह नियम है कि जाने हुए दोषके त्यागसे दोषोंको जाननेकी और उनको मिटानेकी सामर्थ्य उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। इस दृष्टिसे जाने हुए दोषके त्यागमें निर्दोषता निहित है। निर्दोषता आ जानेपर गुणोंका अभिमान स्वतः गल जाता है। गुणोंका अभिमान गलते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। उसके मिटनेपर सब प्रकारके भेद और अभाव स्वतः मिट जाते हैं फिर अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे अभिन्नता हो जाती है।

जिसे प्राप्त करना है, उसपर विश्वास और नित्य सम्बन्धपर विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि नित्य सम्बन्ध और विकल्परहित विश्वास उसीपर हो सकता है जिसकी आवश्यकता तो हो, पर जिसे जानते न हों और जो अविनाशी हो, क्योंकि नित्य सम्बन्ध नश्वरसे नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे सभी वस्तु, व्यक्ति आदि का विश्वास मिटनेपर जो विश्वास शेष रहता है वही उसका विश्वास है जिसको प्राप्त करना है और नित्य सम्बन्ध भी उसीसे है। विश्वासमें सम्बन्धकी सामर्थ्य निहित है और सम्बन्धमें प्रीतिकी जागृति स्वतः सिद्ध है। यह नियम है कि प्रीति ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों जिसकी वह प्रीति है उससे दूरी तथा भेद मिटता जाता है, उसके मिटते ही प्रीति स्वयं अपने प्रीतमसे अभिन्न हो जाती है। इस दृष्टिसे विश्वास और नित्य सम्बन्ध भी लक्ष्यकी प्राप्तिमें समर्थ हैं।

छुटकारा उससे पाना है जो निरन्तर बदल रहा है एवं जिसका त्याग अनिवार्य है। इस दृष्टिसे शरीर आदि सभी वस्तुओंकी ममताका त्याग करना है, जिसके करते ही सभी बन्धन स्वभावसे ही टूट जाते हैं अथवा यों कहो कि सब ओरसे विमुखता आ जाती है। फिर स्वभावसे ही समस्त आसक्तियाँ मिटकर उसकी प्रीति बन जाती हैं जिसे प्राप्त करना है।

वर्तमानके कार्य सभी अपने करनेके हैं और उनका परिणाम स्वतः होनेवाला है। जो अपने करनेके हैं उन्हें करना है। परिणाम-पर दृष्टि नहीं रखनी है, क्योंकि उसमें अपना अधिकार नहीं है। यह नियम है कि जो कर सकते हैं उसके कर डालनेपर करनेकी रुचि मिट जाती है और निश्चिन्तता आ जाती है। करनेकी रुचि मिटते ही कर्ता स्वयं किसीकी जिज्ञासा अथवा प्रीति बन जाता है और निश्चिन्तता आते ही व्यर्थ चिन्तन मिट जाता है तथा आवश्यक सामर्थ्यका विकास स्वतः होने लगता है। ऐसा होनेपर जिज्ञासाकी पूर्ति होकर प्रीति प्रीतमसे अभिन्न हो जाती है। इस दृष्टिसे वर्तमानके कार्यका हो जाना ही सफलताकी कुंजी है। पर सफलतापर दृष्टि नहीं रखनी है, अपितु कर्तव्यनिष्ठ होकर कर्तृत्व एवं भोक्तृत्वके अभिमानसे मुक्त होना है। वर्तमानका सुधार ही वास्तविक सुधार है, क्योंकि वर्तमानका परिणाम ही भविष्य होता है। आगे-पीछेका व्यर्थ चिन्तन वर्तमानके दुरुपयोगसे ही होता है। इतना ही नहीं, वर्तमानकी नीरसता ही कामनाओंको जन्म देती है और वर्तमानमें नीरसता तभी आती है जब जो कर सकते हैं उसे नहीं करते और जो नहीं कर सकते उसका चिन्तन करते हैं। इस दृष्टिसे सभी दोषोंका मूल

वर्तमानका दुरुपयोग है, जिसका साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

कर्तव्यनिष्ठ होनेपर कर्तव्यके परिणामपर दृष्टि ही नहीं जाती, क्योंकि फल अपने अधिकारकी वस्तु नहीं है; परंतु यदि कोई यह कहे कि फलकी आशा तो होनी ही चाहिये; क्योंकि उसके बिना अपना अस्तित्व ही कैसे रहेगा? तो कहना होगा कि शरीर आदि सभी वस्तुओंका अस्तित्व तो स्वभावसे ही मिट रहा है। उसकी आशा करना तो प्रमाद ही होगा, और कुछ नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि कर्तव्यनिष्ठ होते ही कर्ता स्वतः जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जायगा। जिज्ञासाकी पूर्ति तथा प्रेमका प्रादुर्भाव तो स्वभावसिद्ध है। इस दृष्टिसे प्रेमी और जिज्ञासु होनेके लिये ही कर्तव्यनिष्ठ होना है। जिस कालमें जिज्ञासा जिज्ञासुको खाकर पूर्ण जाग्रत् होती है उसी कालमें उसकी पूर्ति अपने आप हो जाती है। जिस कालमें प्रेमका उदय होता है, प्रेमी प्रेम होकर स्वयं प्रेमास्पदसे अभिन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि प्रेमास्पदका प्रेम पाकर कृतकृत्य हो जाता है। जिज्ञासुको जिज्ञासापूर्ति और प्रेमीको प्रेमप्राप्तिके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारकी आशा ही नहीं होती। प्रेमप्राप्ति प्रेमास्पदकी अहैतुकी कृपापर निर्भर है और जिज्ञासाकी पूर्ति जिज्ञासाकी पूर्ण जागृतिपर निर्भर है।

साधक जो कर सकता है उसके करनेपर वह स्वभावसे ही जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जायगा और जिज्ञासु तथा प्रेमी होनेपर जो होना है वह स्वतः होने लगेगा। अतः कर्तव्यनिष्ठ होनेमें ही अपना अधिकार है, फलकी आशामें नहीं। फलकी आशा किसी आसक्तिकी सूचक है, जिसका साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

कर्तव्यपालनकी कसौटी है कि फलकी आशा स्वभावसे ही न रहे। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि कर्तव्यपालनका होना ही महान् फल है, क्योंकि कर्तव्यपालनके पश्चात् करनेका प्रश्न ही शेष नहीं रहता। जब साधक जो कर सकता है वह कर डालता है, तब क्या साध्य जो कर सकता है वह नहीं करेगा ? क्या साध्य अपने कर्तव्यसे च्युत हो सकता है ? कदापि नहीं, अपितु साध्य तो इतना उदार है कि साधकको भी करनेकी सामर्थ्य प्रदान करता है। जिस प्रकार माँ अपने शिशुके लिये सब कुछ स्वतः करती है, उसी प्रकार साध्य साधकके लिये सब कुछ करता है। अन्तर केवल इतना है कि माँ सब प्रकारसे समर्थ नहीं है, परंतु साध्य सब प्रकारसे समर्थ है। फलकी आशा साध्यके कर्तव्यपर दृष्टि रखना है, जो साध्यका सबसे बड़ा अनादर है। इस दृष्टिसे फलकी आशा करना साधकका महान् दोष है, उसका त्याग करना परम आवश्यक है।

जाने हुए दोषका त्याग, वर्तमानका सदुपयोग, विकल्परहित विश्वास और शरीर आदि वस्तुओंकी ममताका त्याग अपने करनेका कार्य है, उसको सुगमतापूर्वक प्रत्येक साधक कर सकता है। इसका परिणाम स्वतः होनेवाली वस्तु है। उसके लिये चिन्ता करना प्रमाद है। जो कर सकते हैं, उसके करते ही नित्य योग, अमरत्व और प्रेमकी प्राप्ति स्वतः हो जायगी, जो वास्तविक जीवन है।

क्षणिक जीवनसे निराशा तथा अनन्तका आश्रय

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान परिवर्तनशील क्षणभंगुर जीवनका ज्ञान संसारकी असारताका पाठ पढ़ाता है। अथवा यों कहो कि जीवनकी अनित्यता नित्य-जीवनकी जिज्ञासा जाग्रत् करती है, पर इसकी पूर्ति तभी सम्भव है जब साधक जीवनकी आशाको त्याग कर जीवनका सदुपयोग करने लगे।

जीवनकी आशाके त्यागसे क्षणभङ्गुर जीवनकी कामनाका नाश हो जाता है, जिसके होते ही जिज्ञासाकी पूर्ति हो जाती है। इस दृष्टिसे कामनाओंका त्याग और जिज्ञासाकी पूर्ति वर्तमान जीवनकी वस्तु है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान क्षणभङ्गुर जीवनका सदुपयोग क्या है? तो कहना होगा कि क्षणभङ्गुर जीवनका सदुपयोग है सर्वहितकारी प्रवृत्ति। सर्वहितकारी प्रवृत्तियाँ स्वार्थभावको खा लेती हैं, स्वार्थभावके मिटते ही सुख-भोगकी आसक्ति शेष नहीं रहती और समस्त विश्वके साथ एकताका ज्ञान हो जाता है, जिसके होते ही मोहका नाश और प्रेमका प्रादुर्भाव हो जाता है। निर्मोहतामें वास्तविक ज्ञान और प्रेममें अगाध अनन्त रस निहित है।

अब विचार यह करना है कि सर्वहितकारी प्रवृत्ति क्या है? कहना होगा कि जिसमें किसीका अहित न हो, जिसका उदय

करुणा तथा प्रसन्नतासे हो और जिसके अन्तमें अभिन्नता प्राप्त हो वही सर्वहितकारी प्रवृत्ति है। अभिन्नता आते ही कर्तृत्वका अभिमान गल जाता है और वासनाओंका अन्त हो जाता है। वासनाओंका अन्त होते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता, जिसके मिटते ही नित्य-योग, नित्यजीवन और प्रेम प्राप्त होता है।

जबतक प्राणी क्षणभङ्गर जीवनकी आशा तो करता है, पर उसका सदुपयोग नहीं करता, तबतक न तो साधनका निर्माण हो सकता है और न साध्यकी उपलब्धि ही। इस दृष्टिसे साधकके जीवनमें क्षणभङ्गुर जीवनकी आशाका कोई स्थान ही नहीं है, अपितु उसे निराश होना अनिवार्य है, क्योंकि सच्ची निराशा आ जानेपर जीवनमें ही मृत्युका अनुभव हो जाता है, उसके होते ही समस्त विश्वसे विमुखता हो जाती है। सब ओरसे विमुख होते ही अपनेहीमें अपने उस वास्तविक जीवनका अनुभव हो जाता है, जो दिव्य तथा चिन्मय है।

क्षणभङ्गुर जीवनका सदुपयोग और उससे निराश होनेपर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधनका निर्माण तथा साध्यकी उपलब्धि कर सकता है, परंतु यह तभी सम्भव होगा जब साधन-निर्माण वर्तमान जीवनकी वस्तु हो। उसके लिये प्राप्त विवेकका आदर करना आवश्यक है। यदि किसी कारण प्राप्त विवेकके आदरमें असमर्थताका अनुभव हो तो व्यथित हृदयसे, सरल विश्वासपूर्वक उस अनन्तकी अहैतुकी कृपाका आश्रय लेकर जिसने विवेक तथा सामर्थ्य प्रदान की है, अपनेको उसे समर्पित कर देना चाहिये। समर्पण

साधकका समस्त जीवन दिव्य चिन्मय प्रीति-स्वरूप हो जायगा। फिर सर्वत्र सर्वदा अपने प्रीतमका ही दर्शन होगा; क्योंकि प्रीतिने प्रीतमसे भिन्नको कभी देखा ही नहीं। प्रीति प्रीतमका स्वभाव है और प्रेमीका जीवन है। इस दृष्टिसे प्रीति और प्रीतममें स्वरूपकी एकता है।

क्षणभङ्गुर जीवनका सदुपयोग करके अथवा उससे निराश होकर अथवा अनन्तकी अहैतुकी कृपाका आश्रय लेकर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक वास्तविक जीवन प्राप्त कर सकता है।

परिवर्तनशील एवं वास्तविक जीवन

जीवनके अध्ययनसे स्पष्ट विदित होता है कि जबतक साधकको अपने वर्तमान परिवर्तनशील जीवनका यथार्थ ज्ञान नहीं होता तबतक न तो प्रमादका अन्त होता है, न स्वाभाविक लालसा जाग्रत् होती है और न सर्वहितकारी प्रवृत्तिका उदय ही होता है।

वर्तमान परिवर्तनशील जीवनका यथार्थ ज्ञानरूपी प्रकाश प्रमादरूपी अन्धकारको खा लेता है। फिर स्वाभाविक लालसा स्वतः जाग्रत् होती है, जिसकी पूर्ति अपने आप हो जाती है। फिर होनेवाली सभी प्रवृत्तियोंसे दूसरोंका हित स्वतः होने लगता है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान जीवनका वास्तविक स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि वर्तमान व्यक्तिगत जीवनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, क्योंकि समष्टि शक्तियोंके आधारपर ही व्यक्तिगत चेष्टाएँ होती हैं, जैसे सूर्यके आधारपर ही नेत्रकी चेष्टा होती है। इस दृष्टिसे समस्त विश्व और व्यक्तिगत जीवनके स्वरूपमें कोई भेद नहीं है। अतः जो समस्त विश्वका प्रकाशक है वही व्यक्तिगत जीवनका भी है। परंतु प्राणी प्रमादवश सीमित शक्तियोंके अभिमानमें आवद्ध होकर अपने व्यक्तित्वको अलग मान लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह वस्तु, व्यक्ति आदिकी उस दासतामें आवद्ध हो जाता है जिससे कामनाएँ उत्पन्न होती हैं और जो स्वाभाविक लालसाको आच्छादित करके अनेक प्रकारकी आसक्तियोंको जन्म देती है, उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्तित्वका मोह उत्पन्न हो जाता है, जो अनेक प्रकारके दोषोंकी उत्पत्तिमें हेतु है।

व्यक्तित्वका मोह रहते हुए त्याग करनेपर त्यागी, सेवा करनेपर सेवक और प्रेम करनेपर प्रेमी कहलानेकी कामना बनी रहती है, वह सेवा, त्याग तथा प्रेमकी सार्थकता सिद्ध नहीं होने देती। त्यागकी सार्थकता चिरशान्ति और निर्मोहतामें, सेवाकी सार्थकता स्वार्थसे रहित सर्वहितकारी प्रवृत्तिमें और प्रेमकी सार्थकता प्रेमास्पदको रस प्रदान करनेमें है। चिरशान्ति और निर्मोहताके बिना अमरत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती, सर्वहितकारी प्रवृत्तियोंके बिना प्रवृत्तिके अन्तमें प्रवृत्तिका चिन्तन नहीं मिट सकता और प्रेमास्पदको रस प्रदान किये बिना नित-नव-अनन्त रसकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

दृश्यसे तादात्म्य होनेपर ही दृश्यकी प्रतीति होती है। इन्द्रियोंसे तादात्म्य होनेपर विषयोंकी, मनसे तादात्म्य होनेपर इन्द्रियोंकी और बुद्धिसे तादात्म्य होनेपर मनकी प्रतीति होती है। अतः सम्पूर्ण दृश्य उससे तादात्म्य होनेपर ही प्रतीत होता है। अब विचार यह करना है कि प्राणीका दृश्यसे तादात्म्य क्यों होता है? तो कहना होगा कि कामना-पूर्तिके लिये! यदि कामनापूर्तिका लालच न हो तो दृश्यसे तादात्म्य हो ही नहीं सकता। अब यदि यह विचार किया जाय कि कामना-पूर्तिका लालच क्यों होता है? तो कहना होगा कि उस व्यक्तित्वके मोहसे जो अविवेकसिद्ध है और जो वास्तविकताकी जिज्ञासा तथा भोगकी वासनाओंका समूह ही है। भोग-वासनाओंकी निवृत्ति और वास्तविकताकी जिज्ञासाकी पूर्ति होनेपर व्यक्तित्व-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती। अतः व्यक्तित्वके मोहका अन्त करनेके लिये जिज्ञासाकी पूर्ति और भोग-वासनाओंकी निवृत्ति अनिवार्य है, जो विवेकसे ही हो सकती है।

अविवेककी भूमिमें ही व्यक्तिके मोहकी उत्पत्ति होती है और व्यक्तित्वका मोह ही शरीर आदि दृश्यसे तादात्म्य उत्पन्न करता है, जिसके उत्पन्न होते ही समस्त दृश्यकी प्रतीति होने लगती है। यदि विवेकपूर्वक अविवेकका अन्त कर दिया जाय तो समस्त दृश्य अपने उद्गमस्थानमें स्वतः विलीन हो जायगा, फिर त्रिपुटी शेष न रहेगी। त्रिपुटीके मिटते ही अखण्ड एकरस नित्य-तत्त्वसे अभिन्नता हो जायगी अर्थात् द्रष्टा, दर्शन, दृश्य तीनों उस अनन्तमें विलीन हो जायँगे, जो सभीका सब कुछ है।

जिस दृष्टिसे जिसे हम 'व्यक्तित्व' कहते हैं, वह केवल अविवेककी दृष्टि है, और कुछ नहीं तथा जिसे हम 'पर' कहते हैं, वह इन्द्रियोंकी दृष्टि है, और कुछ नहीं। 'व्यक्तित्व' के मिटते ही 'पर' जैसी कोई वस्तु ही नहीं रहती। अपना तो केवल प्रीतम ही है, और कुछ नहीं—ऐसी दृष्टि तब प्राप्त होती है, जब वर्तमान जीवनके ज्ञानसे अविवेक मिट जाता है; क्योंकि अविवेकके मिटते ही सब प्रकारके भेदका अन्त हो जाता है, भेदका अन्त होते ही सभी वासनाओंका अन्त हो जाता है और वासनारहित होते ही समस्त आसक्तियाँ दिव्य चिन्मय प्रीतिके स्वरूपमें परिवर्तित हो जाती हैं।

आसक्तियोंके रहते हुए ही 'पर' की प्रतीति होती है। जब आसक्तियाँ प्रीतिके स्वरूपमें परिवर्तित हो जाती हैं तब 'पर'-जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती। केवल प्रीति और प्रीतमका ही नित-नव मिलन रहता है, जो वास्तविक जीवन है।

ममताका त्याग और प्रेम

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवनकी सार्थकता सिद्ध करनेके लिये हमें उसपर विश्वास करना है, जो बुद्धिसे परे है। उसको अपना मानना और उसीका प्रेमी होना है। जो बुद्धिके सामने है उसे अपना नहीं मानना है, उसपर विश्वास नहीं करना है, अपितु उसकी सेवा करना है और उसके वास्तविक स्वरूपको जानना है।

बुद्धिके द्वारा जो कुछ प्रतीत हो रहा है उसके प्रति ममता करनेसे किसीका भी कोई लाभ नहीं होता। न तो उसका जिससे ममताकी जाती है और न-ममता करनेवालेका ही। अब विचार यह करना है कि बुद्धिके द्वारा किसकी प्रतीति हो रही है? तो कहना होगा कि देश, काल, वस्तु और व्यक्ति आदिकी। देश, कालकी ममता सीमित बनाती है तथा वस्तु और व्यक्तिकी ममता लोभ और मोहमें आवद्ध करती है। ममतारहित होकर वस्तुओंका सदुपयोग व्यक्तियोंकी सेवा करनेसे निर्लोभता और निर्मोहता-आती है। देश-कालकी ममतासे रहित होनेपर जो असीम और कालातीत है उससे नित्य सम्बन्ध हो जाता है अथवा यों कहो कि उससे अभिन्नता हो जाती है।

लोभ और मोहमें आवद्ध प्राणी सेवा नहीं कर सकता, अतः सेवा करनेके लिये निर्लोभता और निर्मोहता अत्यन्त आवश्यक है। निर्लोभता आनेपर जब वस्तुओंकी अपेक्षा व्यक्तियोंका महत्त्व बढ़ जायगा, तब सेवा स्वभावसे ही होने लगेगी। निर्मोहता आनेपर

अविवेक मिट जायगा, जिसके मिटते ही कर्तव्यका ज्ञान एवं कर्तव्यपरायणता स्वतः प्राप्त होगी। लोभ और मोहका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, केवल वस्तु और व्यक्तिको अपना माननेसे ही लोभ और मोहकी उत्पत्ति होती है। लोभकी उत्पत्ति जड़तामें और मोहकी उत्पत्ति बियोगके भयमें आबद्ध करती है। जड़ता और भयमें आबद्ध प्राणी नित्य चिन्मय जीवनसे विमुख हो जाता है, जो किसीको भी अभीष्ट नहीं है।

वस्तुओंकी ममता अपनेको संग्रही बनाती है और समाजमें दरिद्रता उत्पन्न करती है, जो विप्लवका हेतु है। व्यक्तियोंकी ममता अपनेको मोही बनाकर आसक्त कर देती है और जिनसे ममता की जाती है उनमें अधिकार-लालसा जाग्रत् करती है। मोह और आसक्ति कर्तव्यका ज्ञान नहीं होने देते एवं अधिकार-लालसा की हुई सेवा तथा प्रीतिका दुरुपयोग कराती है और तृष्णामें आबद्ध करती है। उससे करनेवाला कर्तव्यविमूढ़ और करानेवाला तृष्णामें आबद्ध हो जाता है, जिसका परिणाम बड़ा ही दुःखद सिद्ध होता है अर्थात् करनेवाले और करानेवाले दोनोंका अहित होता है। इस दृष्टिसे लोभ और मोहके रहते हुए सेवा सिद्ध नहीं होती। वास्तविक सेवा करनेवालेमें त्याग और करानेवालेमें संतोष उत्पन्न करती है। वह निर्लोभता एवं निर्मोहता आनेपर ही सम्भव है, अतः उसके लिये हमें वस्तुओं और व्यक्तियोंकी ममता त्याग करना होगा।

देश और कालकी ममताने सीमित अहंभावको उत्पन्न कर दिया है, जिसके कारण अनेक भेद उत्पन्न हो गये हैं और जीवन संघर्ष तथा भयसे आक्रान्त हो गया है। सेवाद्वारा सब प्रकारके भाव

संघर्षका अन्त हो सकता है, परंतु कब ? जब सेवा ममता-रहित होकर की जाय, यहाँतक कि जिन साधनोंसे सेवा की जाय उनमें भी ममता न हो और जिनकी सेवा की जाय उनमें भी ममता न हो। तभी वास्तविक सेवा हो सकती है। यदि सेवाके साधनोंके प्रति ममता की जायगी तो सेवकमें अभिमान उत्पन्न हो जायगा, जैसे अपना हाथ मानकर किसीका मुँह धोनेसे धोनेवालेमें अभिमान और धुलानेवालेमें दीनत्व आ जायगा; क्योंकि अभिमान भेद उत्पन्न कर देता है। यदि यह मान लिया जाय कि जिसका मुँह धोते हैं उसीका यह हाथ है तो धोनेवालेमें निरभिमानता और धुलानेवालेमें अभिन्नता आ जायगी जिसके आते ही परस्परमें स्नेहकी वह एकता जाग्रत् होगी, जो भय और संघर्षका अन्त करनेमें समर्थ है। अतः सामर्थ्य, योग्यता, वस्तु, शरीर आदि जिन साधनोंसे सेवा की जाय उन साधनोंको उन्हींका समझना चाहिये जिनकी सेवा हो रही है। ऐसा करते ही सेवकमें त्याग और जिनकी सेवा की जायगी उनमें सौंदर्य तथा संतोष आदि दिव्य गुण उत्पन्न होने लगेंगे। अथवा यों कहो कि जिनकी सेवा की जायगी वे भी सेवक हो जायँगे। यदि की हुई सेवा सेवक बनानेमें समर्थ नहीं है तो समझना चाहिये कि सेवामें कोई दोष है, सेवाके साधनों या सेवापात्रके प्रति वह ममता है जिसका सेवाक्षेत्रमें कोई स्थान ही नहीं है।

दृश्यसे विमुख होनेकी सामर्थ्य प्रदान करता है। दृश्यसे विमुख होते ही सीमित अहंभाव गलकर उस प्रेमके स्वरूपमें बदल जाता है जो प्रेमास्पदसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। प्रेमको स्थायी तथा सबल बनानेके लिये चाहरहित होना अनिवार्य है, क्योंकि चाहकी उत्पत्ति प्रेमको दूषित करती है। यहाँतक कि प्रेम तभी सुरक्षित रह सकता है जब सद्गतिकी भी चाह न हो। इतना ही नहीं, अचाह होनेकी भी चाह न हो, क्योंकि चाहकी उत्पत्ति भिन्नता उत्पन्न करती है जो प्रेममें बाधक है। प्रेम तभी सुरक्षित रह सकता है जब प्रेमीमें इस भावका उदय भी न हो कि मैं प्रेमी हूँ, क्योंकि प्रेम प्रेमीको खाकर ही पुष्ट होता है।

प्रेम निःसंदेहताकी भूमिमें उपजता है और नित्य सम्बन्ध तथा चाहरहित होनेसे पुष्ट होता है। प्रेमके साम्राज्यमें केवल प्रेमका ही आदान-प्रदान है। अथवा यों कहो कि प्रेमास्पदका निवास प्रेममें है और प्रेम प्रेमास्पदका स्वभाव है। इस दृष्टिसे प्रेमका उदय प्रेमास्पदसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। अतः बुद्धिके इस ओर जो कुछ है उसके स्वरूपको जानना है और बुद्धिके उस ओर जो है उसपर विश्वास करना है। बुद्धिके इस ओर जो है उसकी ममताका त्याग करना है और बुद्धिके जो उस ओर है उसको अपना मानना है। बुद्धिके इस ओर जो है उसकी सेवा करनी है और बुद्धिके उस ओर जो है उसका प्रेम होकर रहना है। सेवकमें किसी प्रकारकी ममता नहीं रहती और प्रेमीमें अहं नहीं रहता। यह नियम है कि सेवा त्यागमें और त्याग उस प्रेममें स्वतः बदल जाता है, जो वास्तविक जीवन है।

———

अचाहमें अभिन्नता

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि भेदका अन्त बिना हुए भय, चिन्ता, शोक आदि द्वन्द्वोंकी निवृत्ति सम्भव नहीं है।

अब विचार यह करना है कि भेदका स्वरूप क्या है और उसकी उत्पत्तिका हेतु क्या है? कहना होगा कि समस्त विश्व एक है, जीवन एक है, तत्त्व एक है, उसमें अनेकताको स्वीकार करना ही भेदका स्वरूप है और अविवेक ही उसका कारण है। अविवेकके कारण ही प्राणी शरीर और विश्वका भेद स्वीकार करता है, जो वास्तवमें नहीं है। जैसे अनेक कीटाणुओंका समूह एक शरीर है वैसे ही समस्त दृश्यका समूह एक विश्व है। वह विश्व जिसके प्रकाशसे प्रकाशित है तथा जिसमें उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय है वह तत्त्व भी एक है। इस दृष्टिसे उस एकमें ही अनेकोंकी प्रतीति होती है पर अनेक एकसे भिन्न कभी नहीं होते। अथवा यों कहो कि अनेकता उस एककी विभूतिमात्र है। यद्यपि किसी भी विभूतिकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, परंतु जिसकी वह होती है उससे भिन्नताका भास अवश्य होने लगता है, जो वास्तविक नहीं है। जिस प्रकार दर्पणमें दीखनेवाली आकृति न तो दर्पणके ऊपर बनती है और न भीतर होती है। इतना ही नहीं, उससे दर्पणमें किसी प्रकारकी विकृति भी नहीं होती। दर्पण ही आकृतिके रूपमें प्रतीत होता है, परंतु प्रतीत होनेपर भी दर्पण ज्यों-का-त्यों है। हाँ, आकृतिकी प्रतीतिका कारण अवश्य है, जैसे दर्पणकी निर्मलता, पारेका

पीछे लगना और आकृतिका सम्मुख होना। उसी प्रकार उस एकमें अनेकताकी प्रतीतिका कारण देहाभिमान तथा इन्द्रियजन्य ज्ञानका सद्भाव है। अथवा यों कहो कि भोगकी रुचि ही भेदको उत्पन्न करती है, जो अविवेक सिद्ध है। अपनेको देह न माननेपर भोगकी रुचिका अन्त हो जाता है अर्थात् स्थूल शरीरसे ममता टूटते ही अशुभ प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती और शुभ प्रवृत्तिमें आसक्ति नहीं रहती। सूक्ष्म शरीरकी ममता टूटनेपर व्यर्थ चिन्तनकी उत्पत्ति नहीं होती और सार्थक चिन्तनमें आसक्ति नहीं रहती। अथवा यों कहो कि सब प्रकारका चिन्तन टूट जाता है, क्योंकि कारण शरीरसे ममता टूटते ही निर्विकल्प स्थितिसे भी असंगता हो जाती है, जिसके होते ही देहाभिमान गल जाता है, फिर अनेकताका दर्शन नहीं होता। अथवा यों कहो कि एकमें अनेक और अनेकमें एकहीका दर्शन होता है, जिसके होते ही भेदका अन्त हो जाता है और किसी प्रकारका भय, चिन्ता, शोक आदिका द्वन्द्व नहीं रहता।

भोगकी रुचि अनन्तमें विश्वका दर्शन कराती है। उस रुचिका अन्त होनेपर समस्त विश्व अनन्तमें विलीन हो जाता है। अथवा यों कहो कि वह अनन्तकी प्रीति बन जाती है। इस दृष्टिसे प्रीति और प्रीतमसे भिन्न कुछ है ही नहीं। प्रीति प्रीतमसे और प्रीतम प्रीतिसे सर्वदा अभिन्न रहते हैं; क्योंकि उन दोनोंका स्वरूप एक है। केवल रसनिष्पत्तिके लिये ही दो-जैसे भासते हैं। वास्तवमें तो प्रीतिने प्रीतमसे भिन्न और प्रीतमने प्रीतिसे भिन्न न तो किसी अन्यका दर्शन ही किया और न उन दोनोंका कभी वियोग एवं मिलन हुआ; क्योंकि यही अनन्तकी महिमा है। स्वरूपसे मिलन और वियोगकी

सिद्धि अनन्तमें सम्भव ही नहीं है। इस दृष्टिसे प्रीति और प्रीतमकी दिव्य चिन्मय लीला सर्वदा रसरूप है।

अब विचार यह करना है कि भोगकी रुचिका अन्त कैसे हो? तो कहना होगा कि भोगकी वास्तविकताका ज्ञान भोगकी रुचिका अन्त करानेमें समर्थ है। प्रत्येक भोगकामनाकी पूर्तिके अन्तमें भोगी पुनः उसी स्थितिमें आता है जिसमें भोगकामनाकी उत्पत्तिसे पूर्व था। कामनाके उत्पत्तिकालका अभाव तथा दुःख, प्रवृत्ति-कालका श्रम तथा सुख और पूर्तिकालकी शक्तिहीनता तथा जड़ता—इनके ज्ञानसे यह प्रेरणा मिलती है कि भोगकामनाकी उत्पत्ति, प्रवृत्ति और पूर्तिसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती, केवल श्रमका दुर्व्यय और अभावकी उपलब्धि होती है।

यदि भोगकामनाकी उत्पत्तिसे पूर्वके जीवनपर दृढ़ आस्था हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भोगकी रुचिका अन्त हो सकता है, क्योंकि कामना-उत्पत्तिसे पूर्वका जीवन अभावयुक्त नहीं है, अपितु दिव्य तथा चिन्मय है।

कामना-उत्पत्तिसे पूर्वके दिव्य तथा चिन्मय जीवनपर दृढ़ आस्था कैसे हो? तो कहना होगा कि जाने हुए असत्‌का त्याग करनेपर सत्‌का संग होगा और सत्‌का संग होते ही दिव्य चिन्मय जीवनमें आस्था स्वतः हो जायगी। पर यह तभी सम्भव होगा जब असत्‌का सदुपयोग और सत्‌की लालसा जाग्रत् हो जाय; क्योंकि सत्‌की लालसा

सेवा ही असत्का सर्वोत्कृष्ट उपयोग है। यह नियम है कि जो वस्तु सेवामें लग जाती है उससे ममता नहीं रहती और जिसकी सेवा की जाती है उसमें सौन्दर्य आ जाता है, अतः शरीर आदि वस्तुओंके द्वारा विश्वकी सेवा करनेसे विश्वमें सौन्दर्य आ जायगा और शरीर आदि वस्तुओंकी ममता मिट जायगी, जिसके मिटते ही सत्की वह अभिलाषा स्वतः जाग्रत् होगी, जो सत्से अभिन्न करनेमें हेतु है। विश्व शरीरके काम आ जाय—यह स्वार्थ भिन्नता उत्पन्न करता है और शरीर विश्वके काम आ जाय—यह सेवा अभिन्नता प्रदान करती है। शरीर और विश्वका विभाजन नहीं हो सकता केवल स्वार्थ-भाव ही भेद उत्पन्न करता है। इस दृष्टिसे स्वार्थ भावका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

भेदने संयोग-वियोगका द्वन्द्व उत्पन्न कर दिया है। भेदके मिट ही वियोग नित्य योगमें और संयोग सेवामें विलीन हो जायगा, यह संयोग-वियोगका वास्तविक उपयोग है। नित्य योगमें अमरत्व औ सेवामें नित-नव प्रीति निहित है। इस दृष्टिसे वियोग अमरत्व औ संयोग नित-नव रसका हेतु है। इतना ही नहीं, प्रीति संयोगमें भी वियोग और वियोगमें भी नित्ययोगका अनुभव कराती है, जिससे उत्तरोत्तर उस रसकी वृद्धि होती रहती है, जो वास्तविक जीवन है।

भेदका अन्त करनेके लिये चाहरहित होना अनिवार्य है। चाहरहित होनेपर आवश्यक चाह अपने आप पूरी हो जाती है और अनावश्यक चाह मिट जाती है। इस दृष्टिसे चाहकी उत्पत्तिका जीवनमें भले ही स्थान हो, पर चाह करनेका कोई स्थान नहीं है। प्राकृतिक नियमके अनुसार चाह एक प्रकारकी भूख है। यथा

आह्वान भोगी करता है, योगी नहीं; परंतु भूखकी उत्पत्ति तो स्वाभाविक है और भोजनकी प्राप्ति भी स्वतः सिद्ध है। भूखके आह्वानसे 'मैं भूखा हूँ' यह दरिद्रता और भोजनकी पराधीनता ही प्राप्त होती है, और कुछ नहीं। भूखका आवाहन न करनेसे भोजन स्वयं भूखसे आ मिलता है और मिलते ही दोनोंका भेद मिट जाता है। अथवा यों कहो कि दोनों एक हो जाते हैं। उस समय न तो भूख भूख है और न भोजन भोजन, अपितु एक अनुपम तृप्ति है, जो भूख और भोजनसे पूर्व भी थी। इस दृष्टिसे चाहरहित होनेमें ही जीवनकी सार्थकता निहित है। भेद मिटते ही अपने प्रति अपनी उस प्रियताकी जागृति होती है, जो नित्य है और स्वभावसिद्ध है। इस दृष्टिसे चाहरहित होनेपर अथवा यों कहो कि भेद मिटनेपर जो प्रियता जाग्रत् होती है वही दिव्य चिन्मय प्रीति है। प्रीति पूर्ति और निवृत्तिके द्वन्द्वसे रहित है। इसी कारण नित-नव तथा अनन्त है। अथवा यों कहो कि अनन्तका मिलन भी अनन्त है और अनन्तका वियोग भी अनन्त है। समस्त विश्वको जिसने अपनेमें अपनेहीद्वारा आप निर्मित किया है, उसकी सभीके प्रति अगाध प्रियता है, तो फिर चाह और चिन्ताके लिये स्थान ही कहाँ है? चाह करना तो अपने और प्रेमास्पदके बीच काल्पनिक भेद उत्पन्न करना है, और कुछ नहीं; क्योंकि स्वरूपसे तो समस्त विश्व उन्हींकी अभिव्यक्ति है। अतः सब प्रकारकी चाहसे रहित होकर भेदका वह अन्त करना है, जिसके होते ही भोग योगमें, मृत्यु अमरत्वमें और समस्त आसक्तियाँ उस दिव्य चिन्मय प्रीतिमें विलीन हो जायँगी, जो वास्तविक जीवन है।

श्रमरहित साधन

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि आलस्य और श्रमरहित साधन तथा वियोग और सीमासे रहित साध्यकी प्राप्तिमें ही जीवनकी सार्थकता निहित है। श्रम तथा आलस्यका जन्म सीमित अहंभावसे होता है। अतः उसके द्वारा किये हुए साधनसे उसी साध्यकी उपलब्धि हो सकती है, जिसका वियोग अनिवार्य है, जिसमें जीवन नहीं है, रस नहीं है; अपितु अनेक प्रकारके अभाव-ही-अभाव हैं, जो किसीको अभीष्ट नहीं हैं।

सीमित अहंका स्वरूप है करनेकी रुचि, पानेका लालच और जीनेकी आशा। करनेकी रुचिका उपयोग आलस्यरहित तथा लालच-रहित होकर दूसरोंके अधिकारकी रक्षामें है और जीनेकी आशाका उपयोग अमर होनेमें है, पर ऐसा न करके हम अपने अधिकारको सुरक्षित रखनेके लिये श्रमका, दूसरोंके अधिकारकी रक्षामें आलस्यका एवं सुखभोगके लिये जीनेकी आशाका उपयोग करते हैं, जिसके परिणाम केवल अनेक प्रकारके भय, शोक और मृत्यु आदि हैं।

श्रमका सदुपयोग करनेपर विश्राम स्वतः आ जाता है और आलस्य मिट जाता है। विश्राम आते ही और आलस्य मिटते ही श्रमरहित साधन स्वतः उत्पन्न होता है, जो वियोगरहित साध्यसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। श्रमका सदुपयोग वही कर सकता है, जो दूसरोंके अधिकारकी रक्षाको ही अपना कर्तव्य मानता है। अपने अधिकारका त्याग करनेपर ही विश्राम मिल सकता है। अतः अपने अधिकारके त्याग और दूसरोंके अधिकारकी रक्षामें ही श्रमका

सदुपयोग, विश्रामकी प्राप्ति और श्रमरहित साधनकी जागृति निहित है।

श्रमरहित साधनका आरम्भ समर्पित होनेमें, मध्य नित्य योगमें और अन्त प्रेमप्राप्तिमें है। करनेकी रुचिका अन्त समर्पणमें, अमरत्वकी प्राप्ति नित्य योगमें एवं अगाध अनन्त रसकी उपलब्धि प्रेममें निहित है।

करनेकी रुचि रखते हुए जो करना है उसे न करना आलस्यको जन्म देता है, जो करनेकी रुचिको जीवित रखनेमें हेतु है। करनेकी रुचि और आलस्य यह द्वन्द्व ही सीमित अहंभावको जीवित रखता है, समर्पण नहीं होने देता। सीमित अहंभावके रहते हुए भेदका अन्त नहीं हो सकता और भेदका अन्त बिना हुए अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवनसे अभिन्नता नहीं हो सकती। इस दृष्टिसे भेदका अन्त करनेके लिए सीमित अहंभावका अन्त करना अनिवार्य है, वह श्रमरहित साधन अर्थात् समर्पणसे ही सम्भव है।

विकल्परहित विश्वासके बिना समर्पित होनेकी योग्यता तो नहीं आती; परन्तु प्राप्त विवेकके प्रकाशमें 'यह' को 'यह' जानकर 'यह' से विमुख होकर जो सभीसे अतीत है उससे अभिन्न हो सकते हैं। इस दृष्टिसे प्राप्त विवेकके द्वारा भी श्रमरहित साधनका निर्माण हो सकता है। अन्तर केवल इतना है कि समर्पण मानकर और विवेक जानकर होता है। विवेक और विश्वास दोनोंसे ही श्रमरहित साधनका उदय हो सकता है।

अब विचार यह करना है कि 'यह' को 'यह' जाननेका अर्थ क्या है? कहना होगा कि इन्द्रियोंकी दृष्टिसे समस्त विश्वका अर्थ 'यह' है, बुद्धिकी दृष्टिसे मनका अर्थ 'यह' है और अन्तर्दृष्टिसे बुद्धिका

अर्थ भी 'यह' है। इस प्रकार इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्यसे विमुख होना है, जिसके होते ही अन्तर्दृष्टि स्वयं अनन्तसे अभिन्न कर देगी, फिर सीमित अहंभाव-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहेगी।

प्राप्त सामर्थ्यका सद्व्यय करनेपर अथवा असमर्थ होनेपर श्रम-रहित साधन स्वतः उत्पन्न होता है। पर कब? जब साधक साध्यसे निराश न हो; क्योंकि साध्यकी लालसा प्राप्त सामर्थ्यका सद्व्यय और समर्पण करा देनेमें समर्थ है। वियोगरहित साध्यकी लालसा तभी सबल तथा स्थायी हो सकती है, जब संयोगजनित दासताका अन्त कर दिया जाय। संयोगजनित दासताका अन्त करनेके लि सामर्थ्यके अनुरूप सेवा और विवेकपूर्वक त्याग अपेक्षित है।

संयोगजनित दासताका अन्त होते ही अचाह पद प्राप्त होग अथवा एक ऐसी चाह उत्पन्न होगी, जो न कभी मिटेगी और जिसकी पूर्ति होगी, अर्थात् पूर्ति-निवृत्तिसे रहित चाहका उदय होग अचाह पद अप्रयत्नपूर्वक अमरत्वसे अभिन्न करनेमें समर्थ है औ पूर्तिनिवृत्तिसे रहित चाह दिव्य चिन्मय प्रीतिकी जागृतिमें हेतु है

चाहरहित होना अथवा पूर्तिनिवृत्तिसे रहित चाहका उदय होन तभी सम्भव है जब 'यह' से विमुखता और 'है' से अभिन्नता प्रा हो। 'यह' से विमुखता विवेकसाध्य है और 'है' से अभिन्नता नित्य सम्बन्धसाध्य है। नित्य सम्बन्ध विश्वासपूर्वक निःसंदेह होनेपर ह सम्भव है और विवेककी जागृति दृश्यपर संदेह होनेपर ही सम्भव है। जिसे दृश्यपर संदेह नहीं होता वह संयोगकी दासतामें आबद्ध हो जाता है, जो वियोगका भय उत्पन्न करनेमें हेतु है। उसक जीवन चाहकी अपूर्तिके दुःख और पूर्तिके सुखमें आबद्ध हो जाता

है। चाहकी अपूर्ति और पूर्तिका द्वन्द्व न तो चाहरहित होने देता है और न पूर्तिनिवृत्तिरहित वास्तविक चाहका उदय ही होने देता है। अथवा यों कहो कि चाहकी अपूर्ति और पूर्तिका द्वन्द्व न तो अमरत्वकी प्राप्ति होने देता है और न प्रेमकी ही, जो वियोगरहित साध्य है।

अमरत्वकी प्राप्तिमें सर्वदुःखोंका अन्त है अर्थात् अभावका अभाव है। पूर्तिनिवृत्तिरहित चाह अर्थात् दिव्य चिन्मय प्रीतिमें नित-नव-रस है। दुःखोंका अन्त, नित्य जीवनकी प्राप्ति एवं अगाध अनन्त रसकी उपलब्धि श्रमरहित साधन और वियोगरहित साध्यमें निहित है।

जो रस नीरसतामें, जो जीवन मृत्युमें और जो संयोग वियोगमें बदल जाता है वह भोग है और अविवेकसिद्ध है। भोगमें श्रमयुक्त साधन है, उसके परिणाममें अभाव है। अमरत्वमें श्रमरहित साधन है और नित्य-योग है। प्रीतिमें श्रमरहित गतिशीलता है, जो वियोग में मिलन और मिलनमें वियोगका भास कराकर अगाध अनन्त रस प्रदान करनेमें समर्थ है।

श्रमरहित साधन और वियोगरहित साध्यकी प्राप्ति विश्वास-पूर्वक समर्पणमें अथवा विवेकपूर्वक अविवेकका अन्त करनेमें निहित है, जो वर्तमान जीवनकी वस्तु है। वर्तमान कार्यको भविष्यपर छोड़ना प्रमाद है। अतः इसको सर्वप्रथम कार्य जानकर श्रमरहित साधन निर्माण करनेके लिये निज विवेकका आदर तथा प्राप्त सामर्थ्यका सदुपयोग करना अनिवार्य है।

साधनभेद और साध्यकी एकता

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि निर्मोहता, परिस्थितिके सदुपयोग और समर्पणमें ही समस्त साधन-तत्त्व विद्यमान है, क्योंकि प्रत्येक साधकमें बीजरूपसे विवेकशक्ति, श्रमशक्ति और भावकी शक्ति विद्यमान है। विवेकशक्तिके सदुपयोगमें निर्मोहता, श्रमशक्तिके उपयोगमें परिस्थितिका सदुपयोग और समर्पणमें भावशक्तिकी परावधि निहित है; परन्तु व्यक्तिगत भेदसे किसीमें विवेकशक्ति, किसीमें भावशक्ति तथा किसीमें श्रमशक्ति मुख्य और अन्य शक्तियाँ गौणरूपसे रहती हैं। जो शक्ति मुख्यरूपसे होती है उसीके आधारपर साधनका आरम्भ होता है; परंतु शेष दो शक्तियोंका उपयोग भी स्वतः हो जाता है। समस्त शक्तियोंका उपयोग होनेपर साधक साधनतत्त्वसे अभिन्न होकर साध्यको प्राप्त कर लेता है। साधन अनेक और साध्य एक है। इस कारण समस्त साधक एक ही साध्यसे अभिन्न हो जाते हैं। साधनभेद होनेपर साध्यका भेद नहीं होता। इस दृष्टिसे सभी साधन आदरणीय हैं।

विवेकशक्तिका उपयोग साधकको निर्मोहता प्रदान करता है। मोहरहित होते ही समस्त आसक्तियाँ स्वतः मिट जाती हैं। उनके मिटते ही स्वभावसे ही परिस्थितिका सदुपयोग होने लगता है। परिस्थितिका सदुपयोग होनेपर प्राप्त परिस्थितिसे असङ्गता आ जाती है

है। इस दृष्टिसे भावशक्तिके सदुपयोगके लिये भी विवेक शक्ति तथा श्रमशक्ति अनिवार्य है। अनंतके नाते सर्वात्मभावसे की हुई प्रवृत्ति स्वभावसे ही निवृत्तिमें विलीन हो जायगी, जिसके होते ही स्वतः स्मृति जाग्रत् होगी, जो अन्यकी विस्मृति करके अनन्तसे अभिन्न कर देगी।

प्रत्येक साधकको शरीर, हृदय और मस्तिष्क प्राप्त है। शरीर-द्वारा श्रमपूर्वक परिस्थितिका सदुपयोग, हृदयद्वारा सरल विश्वास-पूर्वक समर्पण और मस्तिष्कद्वारा विवेकपूर्वक निर्मोहता प्राप्त करना परम आवश्यक है। निर्मोहता नित्य जीवन, परिस्थितिका सदुपयोग वीतरागता और समर्पण प्रेम प्रदान करता है। मोहरहित हुए बिना अमरत्वकी, वीतराग हुए बिना नित्ययोगकी और प्रेमके बिना अगाध अनन्त रसकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

नित्य योग, नित्य जीवन और अगाध अनन्त रस—इन तीनोंका विभाजन उसी प्रकार नहीं हो सकता। जिस प्रकार वर्तमान जीवनमेंसे शरीर, हृदय और मस्तिष्कका विभाजन नहीं हो सकता उसी प्रकार केवल नित्य जीवनको लेकर तत्त्वज्ञान, नित्य योगको लेकर चिर शान्ति और केवल प्रेमको लेकर अगाध अनन्त रसकी चर्चा तो की जा सकती है, पर रसरहित जीवन, जीवनरहित रस और शान्तिरहित रस तथा जीवन किसीको अभीष्ट नहीं है। सभीके चिर शान्ति, अमरत्व और नित-नव रसकी अपेक्षा है।

इस दृष्टिसे सभी साधकोंका साध्य एक है और प्रत्येक साधनमें सभी साधनोंका समावेश है। साधनके आरम्भका भेद और मान्यताका भेद वास्तविक भेद नहीं है। विवेकीका अहंभाव तत्त्वसे

अभिन्न हो जाता है, योगीका चित्त शान्तिमें विलीन हो जाता है और प्रेमीका प्रेम होकर प्रेमास्पदसे अभिन्न हो जाता है। साधक एक है, जीवन एक है और साध्य भी एक है। इस कारण निर्मोहता, परिस्थितिका सदुपयोग एवं समर्पण—तीनों ही साधन-पद्धतियोंको अपनाना है। चाहे निर्मोहतापूर्वक परिस्थितिके सदुपयोग और समर्पणको, चाहे समर्पणसे निर्मोहता और परिस्थितिके सदुपयोगको अथवा परिस्थितिके सदुपयोगसे समर्पण और निर्मोहताको प्राप्त किया जाय।

किसी एककी पूर्णतामें सभीकी पूर्णता स्वतःसिद्ध है। अतः साधनभेद होनेपर भी प्रीतिभेद तथा साध्यभेदके लिये साधकके जीवनमें कोई स्थान नहीं है। साधनका आरम्भ चाहे जिस पद्धतिके अनुसार हो; परन्तु अन्तमें तो सभी साधन एक होकर उस साध्यसे अभिन्न हो जाते हैं, जो वास्तविक जीवन है।

बाह्य दृष्टियोंका सदुपयोग

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि बाह्य और अन्तर्दृष्टिका समूह ही वर्तमान जीवन है और इन दृष्टियोंके सदुपयोगमें ही वास्तविक जीवनकी प्राप्ति है।

बाह्य दृष्टिके दो भाग हैं—एक इन्द्रियदृष्टि और दूसरी बुद्धिदृष्टि। इन्द्रियदृष्टिका सदुपयोग सेवामें और दुरुपयोग रागकी उत्पत्तिमें तथा बुद्धिदृष्टिका सदुपयोग रागरहित होनेमें और दुरुपयोग विवादमें निहित है। दृष्टिके सदुपयोगमें साधनका निर्माण और दुरुपयोगमें साधनसे विमुखता रहती है।

अब देखना यह है कि बाह्य दृष्टिका सदुपयोग हो रहा है अथवा दुरुपयोग? यदि दुरुपयोग हो रहा है तो समझना चाहिये कि इन्द्रियदृष्टिपर बुद्धिदृष्टिका प्रभाव और बुद्धिदृष्टिपर अन्तर्दृष्टिका प्रभाव नहीं है। इन्द्रियदृष्टिका सदुपयोग करनेके लिये उसपर बुद्धिदृष्टिका प्रभाव होना अनिवार्य है और बुद्धिदृष्टिका सदुपयोग तभी सम्भव होगा जब उसपर अन्तर्दृष्टिका प्रभाव हो। अन्तर्दृष्टि बुद्धिदृष्टिमें शुद्धता लाती है और बुद्धिदृष्टि इन्द्रियदृष्टिकी जड़ताका अपहरण करती है। फिर इन्द्रियोंके द्वारा यथेष्ट सेवा होने लगती है अथवा अनुपम रचना तथा सौन्दर्यको देखकर अनन्त नित्य सौन्दर्यकी वह लालसा जाग्रत् हो जाती है, जो रागको अनुरागमें बदल देती है। यही इन्द्रियदृष्टिका वास्तविक उपयोग है। बुद्धिदृष्टिकी शुद्धता रागरहित कर देती है और इन्द्रियदृष्टिको अपनेमें विलीन करके अन्तर्दृष्टिको जाग्रत् करती है।

अन्तर्दृष्टिका वर्णन सम्भव नहीं है, पर उसका जाग्रत् करना

अनिवार्य है; क्योंकि वर्णन करनेके लिये तो बाह्य दृष्टिका आश्रय लेना होगा। अतः अन्तर्दृष्टिका वर्णन नहीं हो सकता, पर उसको प्राप्त किया जा सकता है। बाह्य दृष्टिका सदुपयोग ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यों-त्यों अन्तर्दृष्टि स्वतः जाग्रत् होती जाती है। अब विचार यह करना है कि बाह्य दृष्टिका सदुपयोग क्या है? तो कहना होगा कि बाह्य दृष्टिका सदुपयोग करनेके लिये सर्वप्रथम स्वार्थभावका अन्त करना होगा। उसके होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति सेवाभावसे स्वतः होने लगेगी। यह नियम है कि सेवाभावसे की हुई प्रवृत्ति हृदयमें अनुराग जाग्रत् करती है और उस प्रवृत्तिके अन्तमें स्वभावसे ही वह सहज निवृत्ति आ जाती है, जिसके आते ही चिरशान्ति अथवा मधुर स्मृति स्वतः होने लगती है। चिरशान्तिसे नित्ययोग तथा मधुर स्मृतिसे प्रियसे भिन्नकी विस्मृति स्वतः होने लगती है, फिर बाह्य दृष्टि स्वतः अन्तर्दृष्टिमें विलीन हो जाती है।

यद्यपि अन्तर्दृष्टि अहं एवं श्रमसे रहित है, परंतु जबतक अहं तथा श्रमका नितान्त अभाव नहीं हो जाता, तबतक अन्तर्दृष्टिमें भी बाह्य दृष्टिके समान दिव्य दृश्यकी प्रतीति होती रहती है। बाह्य दृष्टिकी अपेक्षा अंतर्दृष्टि सूक्ष्म तथा विभु होती है। इस स्थितिमें अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ आने लगती हैं। विवेकदृष्टिसे वह भी बाह्य दृष्टि ही है। आयी हुई सिद्धियोंका उपभोग न करनेसे अन्तर्दृष्टि जाग्रत् होगी, जो अहं तथा श्रमको खाकर सब प्रकारकी दूरी तथा भेदका अन्त कर देगी।

अब विचार यह करना है कि बाह्य दृष्टिका सदुपयोग करनेपर अन्तर्दृष्टिमें दिव्य दृश्यकी उत्पत्ति क्यों होती है? तो कहना होगा कि अहंभावका अस्तित्व रहते हुए किसी-न-किसी प्रकारका राग शेष

रहता है, यद्यपि वह राग बाह्य प्रवृत्तियोंमें हेतु नहीं है; क्योंकि संयम तथा तपका बल उस रागको बाह्य क्रियात्मक रूपमें परिणत नहीं होने देता। उस रागकी निवृत्तिके लिये अन्तर्दृष्टिमें दिव्य दृश्यकी उत्पत्ति होती है। ज्यों-ज्यों चिरशान्ति और अनुराग दृढ़ होता जाता है त्यों-त्यों अहंभाव गलता जाता है। अहंभावका अन्त होते ही अन्तर्दृष्टि अन्तर्दृश्यको अपनेमें विलीन कर अनन्तसे अभिन्न कर देती है, जो वास्तविक जीवन है।

जब-जब बाह्य दृष्टिका स्फुरण हो, तब-तब स्वभावसे ही उसका सदुपयोग होना चाहिये। इन्द्रियदृष्टिका सदुपयोग सेवामें और बुद्धिदृष्टिका रागरहित होनेमें है। सेवाभाव 'करनेकी रुचि' का अन्त कर देगा और इन्द्रियदृष्टिको बुद्धिदृष्टिमें विलीन कर देगा। इन्द्रियदृष्टिका बुद्धिदृष्टिमें विलय होते ही वह निर्विकल्पता स्वतः आ जायगी, जो अन्तर्दृष्टिकी भूमि है। अथवा यों कहो कि निर्विकल्पता बाह्य दृष्टिका स्फुरण नहीं होने देगी। निर्विकल्पता आनेपर अनन्तकी कृपाशक्ति अप्रयत्नरूपसे अन्तर्दृष्टि जाग्रत् करेगी। अन्तर्दृष्टि नित्ययोग प्रदान करके सब प्रकारके अभावका अभावकर चिन्मय राज्यमें प्रवेश करा देगी।

बाह्य दृष्टिके सदुपयोगमें अन्तर्दृष्टिकी जागृति और अन्तर्दृष्टिकी जागृतिमें चिरशान्ति, अमरत्व एवं परम प्रेमकी उपलब्धि निहित है। बाह्य दृष्टिके उपयोगमें भले ही भेद हो; परंतु अन्तर्दृष्टिमें किसी प्रकारका भेद नहीं है, क्योंकि भेद 'अहं' से उत्पन्न होता है और अन्तर्दृष्टि 'अहं'को खा लेती है। अतः भेदका अन्त हो जाता है। अन्तर्दृष्टि नित्य चिन्मय ज्योति है, जो सभीको स्वभावसे प्राप्त है; परंतु उसकी जागृतिके लिये बाह्य दृष्टिका सदुपयोग अनिवार्य है।

चिरशान्ति और सरसता

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवनके दो प्रधान अङ्ग हैं—क्रियाशीलता और चिरशान्ति। क्रियाशीलता वर्तमानको सरस बनाती है और चिरशान्ति चिन्मय नित्य जीवनसे अभिन्न करती है। जबतक जीवनमें नीरसता निवास करती है तबतक वर्तमान सरस नहीं हो पाता, क्योंकि नीरसता व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न करती है। अथवा यों कहो कि अप्राप्त परिस्थितिकी रुचि उत्पन्न करती है और वर्तमानका सदुपयोग नहीं होने देती। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है और उसके सदुपयोगमें ही प्राणीका हित निहित है, परंतु यह रहस्य कोई बिरले ही जान पाते हैं; क्योंकि वर्तमानकी सुखलोलुपता प्रतिकूलतामें नीरसता उत्पन्न कर देती है।

यदि प्रतिकूलताके भयसे भयभीत न हो, अपितु आये हुए दुःखको हर्षपूर्वक सहन कर लिया जाय तो उस दुःखमें ही सरसता आ जायगी और नीरसता मिट जायगी। नीरसताके मिटते ही स्वतः वर्तमानका वह सदुपयोग होने लगेगा, जो विकासका मूल है। यदि आये हुए दुःखको सहर्ष सहन न किया गया तो नीरसता व्यर्थ चेष्टाओंको उत्पन्न करेगी और अमूल्य समय बरबाद होगा, जो किसी भी वस्तुके बदलेमें मिल नहीं सकता। इस दृष्टिसे नीरसताका साधकके जीवनमें कोई स्थान नहीं है।

अब विचार यह करना है कि नीरसताका उद्गमस्थान क्या

है? तो कहना होगा कि नीरसताका उद्गमस्थान है विषयरसका सेवन अर्थात् विषयसुखमें वह जीवन-बुद्धि है, जो अविवेकसिद्ध है।

प्राकृतिक नियमके अनुसार जो सुखभोग विकासमें बाधक होता है उसका राग मिटानेके लिये ही प्रतिकूल परिस्थिति आती है और जो सुख विकासमें साधक होता है उसकी पूर्तिके लिये अनुकूल परिस्थिति आती है; अथवा यों कहो कि प्रतिकूलता जागृतिके लिये आती है और अनुकूलता उदार बनानेके लिये; परंतु जो दुःखमें जाग्रत् नहीं होता और सुखमें उदार नहीं रहता, वही परिस्थितियोंकी दासतामें आबद्ध होता है और उसीके जीवनमें नीरसता निवास करती है।

अब विचार यह करना है कि क्या सुखभोगका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है? तो कहना होगा कि सुखकी वास्तविकता जाननेके लिये सुख देनेका स्थान है, लेनेका नहीं। इस दृष्टिसे परस्परमें सुख देनेकी ही रुचि रहनी चाहिये, लेनेकी नहीं। सुख देनेकी रुचि सुख भोगकी आसक्तिको खा लेती है। फिर साधक सुगमतापूर्वक सुखकी दासतासे मुक्त हो जाता है, क्योंकि सुख देनेकी लालसा त्याग और प्रेमको पुष्ट करती है। अतः सुख देनेके लिये ही मिला है, भोगके लिये नहीं। सुख देनेका जो सुख है वह साधकको उदार बनाता है। उदारता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यों संकीर्णता मिटती जाती है और जीवनमें व्यापकता आती जाती है। अथवा यों कहो कि उदारता स्नेहकी एकता उत्पन्न करती है और प्रतिकूलता अर्थात् दुःख जागृति उत्पन्न करता है। जागृति जड़ताका अपहरण करती है। जड़ताका अपहरण होते ही प्रतिकूलताका

भय स्वतः मिट जाता है और वह प्रकाश मिलता है, जो मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जानेमें समर्थ है। इस दृष्टिसे अनुकूलता तथा प्रतिकूलता दोनों ही साधन-सामग्री हैं, और कुछ नहीं।

साधन-सामग्रीके उपयोगकी महत्ता है, सामग्रीकी नहीं। इस दृष्टिसे अनुकूलता और प्रतिकूलता कुछ अर्थ नहीं रखतीं, उनका सदुपयोग अर्थ रखता है। नीरसता तभीतक निवास करती है जबतक वर्तमानका सदुपयोग नहीं करते। वर्तमानका सदुपयोग वर्तमानसे सम्बन्ध-विच्छेद कर शान्तिसे अभिन्न करता है एवं फिर नीरसता सदाके लिये विदा हो जाती है। वर्तमानका सदुपयोग करनेके लिये सर्वप्रथम कठिनाइयोंको हर्षपूर्वक सहन करनेका स्वभाव बनाना होगा, समस्त दृश्यसे विमुख होकर अपनेहीमें अपने प्रीतमको पाना होगा, प्रत्येक प्रवृत्तिद्वारा दूसरोंके हित तथा प्रसन्नताको सुरक्षित रखना होगा अथवा दिव्य चिन्मय प्रीति होकर रहना होगा। कठिनाईका भय कठिनाईको सुदृढ़ बनाता है, और कुछ नहीं। अतः कठिनाइयोंसे भयभीत होना भूल है। प्रत्येक संयोग निरंतर वियोगकी अग्निमें जल रहा है। अतः संयोगकी आशा कुछ अर्थ नहीं रखती। दोषयुक्त प्रवृत्ति न तो प्रवृत्तिकी दासतासे मुक्त होने देती और न अनुकूल परिस्थिति ही उत्पन्न होने देती है। अतः दोषयुक्त प्रवृत्तिका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। समस्त आसक्तियाँ केवल बन्धनका ही हेतु हैं। अतः उनका अन्त कर दिव्य चिन्मय प्रीति बन जानेमें ही नित-नव रस है। इस दृष्टिसे आसक्ति सर्वथा त्याज्य है।

कामनाओं और जिज्ञासाका समूह ही सीमित अहंभाव है। वर्तमानका सदुपयोग कामनानिवृत्ति और जिज्ञासापूर्तिमें समर्थ है,

सदुपयोगके होते ही दिव्य चिन्मय प्रीति स्वतः जाग्रत् होती है। वर्तमानका सदुपयोग ही क्रियाशीलताकी परावधि है, उसके होते ही साधक चिरशान्तिसे अभिन्न होनेका अधिकारी हो जाता है। चिरशान्ति और क्रियाशीलता दोनों एक ही जीवनके मुख्य अङ्ग हैं; क्योंकि दोनोंका उद्देश्य एक है। चिरशान्ति कोई अवस्था नहीं है, क्योंकि सभी अवस्थाओंसे विमुख होनेपर ही चिरशान्तिसे अभिन्नता होती है। अथवा यों कहो कि चिरशान्ति अन्तर्ज्योतिसे अभिन्न करती है, जो स्वयंप्रकाश है। सभी अवस्थाएँ पर-प्रकाश हैं। चाहे क्रियाशील—अवस्था हो अथवा निष्क्रिय—अन्तर केवल इतना है कि निष्क्रिय अवस्था क्रियाशीलताकी शक्ति प्रदान करती है और क्रियाशीलता शक्तिका व्यय करती है। इसी कारण क्रिया-शीलता सर्वदा निष्क्रियतामें विलीन होती है और प्रत्येक क्रिया-शीलता निष्क्रियतासे ही उत्पन्न होती है। अथवा यों कहो कि गति स्थिरतासे ही उत्पन्न होकर स्थिरतामें ही विलीन होती है; परन्तु चिरशान्ति गति और स्थिरता दोनोंसे ही अतीत है। चिरशान्ति प्राप्त होनेपर सभी साधक समान स्थितिमें आ जाते हैं, किसी प्रकारका वैषम्य नहीं रहता, क्योंकि चिरशान्ति दोषरहित और गुणोंसे अतीत है। जबतक गुण और दोषका द्वन्द्व रहता है तबतक चिर-शान्तिमें प्रवेश नहीं होता। सभी दोषोंका मूल अधिकार-लालसामें और सभी गुणोंका विकास दूसरोंके अधिकारकी रक्षामें निहित है।

अब विचार यह करना है कि अधिकार-लालसाकी उत्पत्ति क्यों होती है? तो कहना होगा कि जबतक प्राणी अपने अस्तित्वको किसीकी भी उदारतापर जीवित रखता है तबतक अधिकार-लोलुपता

उत्पन्न होती रहती है। यद्यपि जिस अस्तित्वकी सिद्धि किसी अन्यपर निर्भर है वह वास्तवमें अस्तित्व ही नहीं है, परंतु प्रमादवश प्राणी उसे अस्तित्व मान लेता है, वास्तवमें तो वह केवल दूसरोंके अधिकारोंका समूह है, और कुछ नहीं। जिन्हें हमने अपना मान लिया है, अथवा जिन्होंने हमें अपना मान लिया है उनके अधिकारकी रक्षा और अपने अधिकारका त्याग करनेपर वह अस्तित्व जो अधिकार-लालसापर जीवित था, मिट जाता है। उसके मिटते ही चिरशान्तिसे अभिन्नता स्वतः हो जाती है। इस दृष्टिसे क्रियाशीलता-पूर्वक दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करनेतक ही अपना अधिकार है। किसीसे अधिकार माँगनेका साधकके जीवनमें कोई स्थान नहीं है।

अब विचार यह करना है कि दूसरोंके अधिकारकी रक्षामें यदि हम अपनेको असमर्थ पाते हैं तो साधनका निर्माण कैसे होगा? ऐसी दशामें किसीका अहित न चाहना ही साधन हो जाता है। साधकके जीवनमें किसीके अहित करने तथा चाहनेका स्थान ही नहीं है। असमर्थतामें किसीका अहित तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि अहित करनेके लिये भी तो सामर्थ्य अपेक्षित है। समर्थदशामें सर्वहितकारी चेष्टाओंसे जो शुद्धि आती है वही शुद्धि असमर्थतामें किसीका अहित न चाहनेसे आ जाती है। इस दृष्टिसे असमर्थता साधननिर्माणमें बाधक नहीं है। साधननिर्माणमें बाधक तो एकमात्र सामर्थ्यका दुरुपयोग ही है; और कुछ नहीं।

शुद्धता आते ही अशुभ संकल्प मिट जाते हैं और शुभ संकल्प स्वभावसे ही पूरे हो जाते हैं। पर संकल्पपूर्तिके सुखमें आबद्ध प्राणी चिरशान्तिसे अभिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध संकल्पोंकी

पूर्तिका सम्बन्ध केवल दूसरोंके अधिकारकी रक्षासे है, अपनी इच्छापूर्तिसे नहीं। दूसरोंके अधिकारकी रक्षा स्वार्थभाव गलानेमें है, सुखभोगमें नहीं। अथवा यों कहो कि दोषके त्यागमें शुद्ध संकल्पोंकी पूर्ति निहित है।

संकल्पपूर्तिका सम्बन्ध भविष्यसे है और चिरशान्ति वर्तमान जीवनकी वस्तु है। अतः चिरशान्तिके अधिकारीको अपनेको शुद्ध संकल्पकी पूर्तिके सुखसे भी असङ्ग करना होगा।

शुद्ध संकल्पोंका प्रवाह भी सीमित अहंभावको जीवित रखता है। इतना ही नहीं, संकल्पनिवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाली निर्विकल्प स्थिति भी अहंभावको नाश नहीं होने देती। यह नियम है कि जबतक सीमित अहंभाव गल नहीं जाता तबतक उस अनन्त नित्य चिन्मय जीवनसे अभिन्नता नहीं हो सकती, जो चिरशान्तिमें निहित है।

यदि कहो कि शुद्ध संकल्पोंका निरन्तर प्रवाह तोड़ दिया गया तो हमारा विकास ही रुक जायगा, क्योंकि अपने विकासके लिये सद्भावनाओंको बनाये रखना अनिवार्य है। तो कहना होगा कि दुर्भावनारूपी रोगके नाशके लिये सद्भावना ओषधि है। प्राकृतिक नियमके अनुसार रोग और ओषधिका मिलन होनेपर दोनोंकी सत्ता मिट जाती है और सदैव रहनेवाली नीरोगता आ जाती है। इस प्रकार सद्भावना दुर्भावनाको खाकर स्वतः मिट जाती है। यदि नहीं मिटी है तो समझना चाहिये कि अभी दुर्भावना मौजूद है। हाँ, यह अवश्य है कि सद्भावनाओंका त्याग नहीं किया जाता पर उनकी पूर्णता स्वयं उसके गलानेमें समर्थ है।

शुद्ध संकल्पकी पूर्ति कहो अथवा कर्तव्यनिष्ठा कहो, यह साधकके जीवनका बाह्यरूप है और निर्विकल्पस्थिति साधकके जीवनका आन्तरिक रूप है। पर चिरशान्ति तो इन दोनोंसे अतीत है। शुद्ध संकल्पोंकी पूर्तिसे सुन्दर समाजका निर्माण होता है और आदर मिलता है तथा संकल्प-निवृत्तिसे दुःखोंका अन्त होता है। पर दिव्य चन्मय नित्य जीवनकी प्राप्तिके लिये तो संकल्पनिवृत्तिसे अतीत चिरशान्तिसे अभिन्न होना अनिवार्य है। निर्विकल्पस्थिति शुद्ध संकल्पोंकी पूर्तिकी सामर्थ्य प्रदान करती है और शुद्ध संकल्पोंकी पूर्तिके सुखका त्याग निर्विकल्पस्थितिको पुष्ट करता है। इस दृष्टिसे निर्विकल्पस्थिति तथा शुद्ध संकल्पकी पूर्तिका पारस्परिक सम्बन्ध है, अथवा यों कहो कि शुद्ध संकल्पकी पूर्ति उत्कृष्ट भोग और निर्विकल्पस्थिति भोगके रागका अन्त करनेवाला योग है। चिरशान्तिके लिये भोगका त्याग और योगसे असङ्गता अनिवार्य है।

शुद्ध संकल्पकी पूर्तिमें जो अभाव प्रतीत होता है उसका एकमात्र कारण यह है कि हम शुद्ध संकल्पके द्वारा भी अपना ही सुख चाहते हैं, दूसरोंका हित नहीं, यह वास्तवमें शुद्धताके रूपमें अशुद्धता है। प्राकृतिक नियमके अनुसार शुद्ध संकल्पकी उत्पत्तिके साथ-साथ अथवा उससे पूर्व उसकी पूर्तिकी सामर्थ्य आनी चाहिये, क्योंकि शुद्ध संकल्पकी पूर्ति समष्टि शक्तिका कार्य है, व्यक्तिका नहीं।